

प्रो. राधाकुमुद मुकर्जी स्मृति व्याख्यानमाला

# अधिनायक मठाधीशों की सांस्कृतिक साधना (आटविक संदर्भों में गोपाद्रि मंदिर शैली)

रमानाथ मिश्र



प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग  
लखनऊ विश्वविद्यालय  
2004-2005

## प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी

विलक्षण प्रतिभा के धनी प्रो. राधाकुमुद मुकर्जी के व्यक्तित्व में एक उच्चकोटि के इतिहासकार एवं मूल्यों पर आधारित एक राजनीतिज्ञ के गुणों का अद्भुत समन्वय था। उनकी उपलब्धियों का कुछ अंश निम्नवत है :

**शैक्षिक योग्यता :** एम. ए., पी-एच.डी., डी. लिट्., फेलो आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल

सर्वप्रथम बंगाल नेशनल कालेज में इतिहास के प्रोफेसर (उन दिनों उस कालेज के प्राचार्य श्री अरविन्द थे)

मैसूर विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्रोफेसर (1917-1921 तक)

लखनऊ विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्रोफेसर 24 वर्षों तक

अवकाशोपरान्त लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एमेरिटस रहे।

उनकी 15 पुस्तकें तथा बड़ी संख्या में शोध-लेख प्रकाशित हैं।

इनमें से कुछ पुस्तकें निम्न प्रकार हैं :

1. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन शिपिंग, लागमैन्स, ग्रीन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 1912
2. द फण्डामेंटल यूनिटी आफ इण्डिया, लागमैन्स, ग्रीन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन, 1914
3. हिन्दू सिविलाइजेशन, लागमैन्स, ग्रीन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन
4. नेशनलिज्म इन हिन्दू कल्चर, एशियन लाइब्रेरी सीरीज, लन्दन
5. लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐशियण्ट इण्डिया, क्लैरिण्डन प्रेस, आक्सफोर्ड
6. हर्ष, रूलर्स आफ इण्डिया सिरीज, आक्सफोर्ड
7. मेन एण्ड थाट इन ऐशियण्ट इण्डिया, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लन्दन
8. इण्डियन लैण्ड सिस्टम, गवर्नमेण्ट आफ बंगाल
9. चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, मोतीलाल बनारसी दास बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली
10. अशोक, मोतीलाल बनारसी दास बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली
11. गुप्ता एम्पायर, मोतीलाल बनारसी दास बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली

### राजनीतिक क्षेत्र :

बंगाल विधान परिषद के सदस्य 1937-1943 ई., तथा नेता विरोधी दल

सदस्य फ्लाइड कमीशन 1939-1940

वाशिंगटन में एफ.ए.ओ. प्रेपरेटरी कमीशन में

भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सहभागिता 1946-1947

राष्ट्रपति द्वारा कौंसिल आफ स्टेट्स के लिए नामांकित 1952

पद्म भूषण सम्मान द्वारा अलंकृत 1956

मुखपृष्ठ : नरेश्वर (जिला मुरैना) के मन्दिर समूह, 8वीं शताब्दी ई०

प्रो. राधाकुमुद मुकर्जी स्मृति व्याख्यानमाला

# अधिनायक मठाधीशों की सांस्कृतिक साधना (आटविक संदर्भों में गोपाद्रि मंदिर शैली)

प्रो. रमानाथ मिश्र

अध्यक्ष (अवकाशप्राप्त), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं  
पुरातत्त्व अध्ययनशाला, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर एवं  
फेलो, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला



प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग  
लखनऊ विश्वविद्यालय

2004

प्रकाशक :

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग  
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सर्वाधिकार :

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग  
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रथम संस्करण 2004

मुद्रक :

पनार आफसेट

'इन्द्रा अनुष्ठान'

गुईन रोड, अमीनाबाद

लखनऊ - 226 018



## प्रकाशकीय

मध्य प्रदेश का एक बहुत बड़ा क्षेत्र अरण्य क्षेत्र है। इन अरण्यों में अनेक शक्ति सम्पन्न आटविक जातियाँ निवास करती थीं। यहाँ से बड़ी संख्या में प्राप्त अभिलेखों, देवालयों तथा मूर्तियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय की संत परम्परा सातवीं शती ई. से तेरहवीं शती ई. तक विद्यमान थी। इनका गहन अध्ययन करके उसे लोकग्राही बनाने का प्रयास विद्वान लेखक का अभीष्ट है। सौभाग्य से मध्य प्रदेश के शिवपुरी जनपद के रन्नोद ग्राम से प्राप्त एक अभिलेख में इस शैव सिद्धान्ती मुनिवंश के प्रादुर्भाव एवं विकास का विस्तृत विवरण मिलता है। इनमें अनेक ऐसे आचार्यों के नाम मिलते हैं जो आचरण की सात्विकता, ज्ञान की गरिमा एवं शक्ति की प्रचण्डता से समन्वित थे। आचार्यों ने अपने गहन प्रयास से तपोवनों को तीर्थों में बदल दिया। जंगल के दुर्दान्त जनों को धर्म की मर्यादा में बाँधने तथा शासकों को उन आक्रामकों के कार्यों से मुक्ति प्रदान कराने में भी इन शैव आचार्यों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

समय की गति के साथ इन शैव सिद्धान्तियों का वर्चस्व बढ़ता रहा। इनके भव्य सुदृढ़ दुर्गों के समान बने भवन इनके विगत ऐश्वर्य एवं शक्ति के प्रतीक हैं। प्रो. मिश्र ने अत्यन्त श्रम पूर्वक उनका क्रमबद्ध इतिहास, उनके द्वारा बनवाए गए देवालयों की निर्माण शैली तथा मूर्तियों का विश्लेषण किया है। अर्थ जब शब्द का रूप ग्रहण करते हैं तब ग्रन्थ का निर्माण होता है। ग्रन्थ सच्चे अर्थों में मनुष्य के अमृत अंश के प्रतीक तथा ज्ञान निधि के कोष होते हैं।

आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सुयोग्य लेखन के निम्न छः गुणों का उल्लेख मिलता है—

1. विषयवस्तु की सुचारु व्यवस्था (अर्थक्रम)
2. तर्कानुकूलता (सम्बन्ध)
3. अभिव्यक्ति की पूर्णता
4. कर्णप्रिय शब्दों का प्रयोग (माधुर्य)
5. भाषा की शालीनता (औदार्य)
6. अभिव्यक्ति की स्पष्टता

प्रस्तुत कृति में सुयोग्य लेखन के उपरिलिखित सभी गुण समाहित हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन में मेरे सहयोगी डॉ० अमर सिंह ने विशेष श्रम किया है जिसके लिए वे साधुवाद के अधिकारी हैं।

प्रो. राधाकुमुद मुकर्जी स्मारक निधि की स्थापना उनके प्रिय शिष्यों तथा शुभेच्छु जनों द्वारा की गई थी। इसका उद्देश्य उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाना था। इसके माध्यम से प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग ने अनेक शीर्षस्थ विद्वानों जैसे हरिकृष्ण मेहता, ओ. सी. गांगुली, जे. एन. बनर्जी, डी. सी. सरकार, वरदाचेरियार, वासुदेवशरण अग्रवाल, आर. सी. मजुमदार, एस. के. सरस्वती, ए. एल. बाशम, कृष्ण दत्त बाजपेयी, गोविन्द चन्द पाण्डे, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी आदि के व्याख्यान समय-समय पर आयोजित करवाए।

प्रो. राधाकुमुद मुकर्जी जैसे असाधारण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान की पुण्य-स्मृति में आयोजित प्रस्तुत व्याख्यानमाला के लिए प्रो. रमानाथ मिश्र जैसे विद्वान द्वारा दिए जाने वाला यह ज्ञान-कोष उस दिवंगत आत्मा के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है। जिस प्रकार प्रति वर्ष हम अपने पूर्वजों का श्राद्ध करते हैं, उनका स्मरण करते हैं तथा उनकी आत्मा की चिरशान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं उसी प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय के परिवार द्वारा आयोजित यह व्याख्यानमाला प्रो० रमानाथ मिश्र जैसे अधिकारी विद्वान के माध्यम से अपने पूर्ववर्ती आचार्य प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी को स्मरण करती है, श्रद्धा ज्ञापित करती है तथा उनकी आत्मा की चिरशान्ति के लिए प्रार्थना करती है।

शैलेन्द्र नाथ कपूर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष  
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग  
लखनऊ विश्वविद्यालय

उत्तरी मध्यप्रदेश के गोपाद्रि (ग्वालियर) अंचल में रन्नोद ग्राम (प्राचीन अरणिपद्र, जिला शिवपुरी) से शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय की संत-परंपरा विषयक एक अभिलेख प्राप्त है। यह अभिलेख शैव सिद्धान्ती मुनिवंश के प्रादुर्भाव एवं विस्तार का सटीक एवं महत्त्वाकांक्षी विवरण देता है। यथा, ये मुनि समस्त जगत के माननीय थे (तस्मिन् मुनिः सकल लोकनमस्य मूर्तिः)। ये उदीयमान चन्द्रमा के समान सतत् ऊर्ध्वगामी थे (इन्द्रूपमः प्रतिदिनं समुदीय मानः) आदि। मध्यप्रदेश के अभिलेखों में मुनियों की यह शाखा शैव सिद्धान्त मत से सम्बन्धित है। 'शैव सिद्धान्त' एक प्रमुख शैव सम्प्रदाय था एवं अन्य शैव सम्प्रदायों जैसे लकुलीश-पाशुपत, सोम, कालानल, मिश्र आदि सम्प्रदायों के समकक्ष था। 'पशु', 'पति' एवं 'पाश' के विशिष्ट दर्शन पर आश्रित यह सम्प्रदाय कालान्तर में दक्षिण भारत, विशेषतः तमिल क्षेत्र में व्याप्त हुआ जहाँ यह एक जीवन्त मत के रूप में आज भी विद्यमान है। नवीन व्याख्याओं के आधार पर अब यह स्पष्ट है कि इस शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय का जन्म मध्यप्रदेश के शिवपुरी-गुना जिलों में स्थित रन्नोद, सुरवाया, तेराही तथा कदवाहा (प्राचीन कदम्बगुहा) से हुआ एवं कदम्बगुहाधिवासी उपनामधारी मुनि इसके संस्थापक थे। कदम्बगु- हाधिवासी एवं उनकी शिष्य परम्परा का विवरण रन्नोद एवं मध्यप्रदेश के अन्य अभिलेखों (जैसे गुर्गी, चद्रेहे, जबलपुर आदि) से उपलब्ध है। शैव सिद्धान्त संस्थापक "कदम्बगुहाधिवासी" की तिथि वी. एस. पाठक द्वारा लगभग 675 ई. में स्थापित की गई है। अभिलेखों में 'मुनि', 'मुनिरत्न', 'मुनीन्द्र' और 'यति' अभिधानों से भूषित ये शैव सिद्धान्ती आचार्य कदम्बगुहाधिवासी के तुरन्त बाद ही 'नाथ', 'पति', 'पाल' 'स्थानाधिकृत' विशेषणों से युक्त होकर उत्तरी मध्यप्रदेश में गोपाचल क्षेत्र के विभिन्न प्रांतों में स्थापित होते गये। मुनियों के ये विशेषण उनकी उत्तरोत्तर विकासमान गुरुता एवं महत्त्व के परिचायक हैं; तथा इनके धर्मतर अभिप्राय भी हैं। गुरु-शिष्य उत्तराधिकार शृंखला के अनुसार शैव सिद्धान्त से सम्बन्धित यह परम्परा मध्यप्रदेश में सातवीं से तेरहवीं शताब्दी तक निरन्तर चलती रही। "शिष्य-प्रशिष्य परिपाटी" पर आधारित यह वंशावली 'वंश', 'अन्वय' अथवा 'सिद्धसंतति' के नामों से विख्यात हुई। यहाँ 'संतति' से तात्पर्य शारीरिक संतान से न होकर

‘स्थानपतियों’ ने वन-प्रांतरों के जनजातीय वर्गों में अभूतपूर्व सम्मान अर्जित किया। उनके धार्मिक कृत्य जैसे, मंदिरों का निर्माण, मठों का संगठन, उत्सवों का आयोजन आदि भी इसमें उनके सहायक बने। साथ ही तत्कालीन शासकों की इन पर निर्भरता ने इन्हें राजनैतिक क्षेत्र में भी वर्चस्व प्रदान किया। इनके आर्थिक वैभव ने भी इनके उत्तरोत्तर विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया।

गोपाचल क्षेत्र में शैव-सिद्धान्त सम्प्रदाय के उत्कर्ष से सम्बन्धित उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त अन्य तथ्य भी ध्यान देने योग्य हैं किन्तु संप्रति हम इस क्षेत्र एवं इसके समीपवर्ती प्रदेशों (जैसे बघेलखण्ड, महाकोसल तथा छत्तीसगढ़) में शैव सिद्धान्त के विकास की चर्चा करेंगे। इन समीपवर्ती प्रदेशों, विशेषतः बघेलखण्ड, महाकोसल तथा छत्तीसगढ़ को भी उन्होंने शैव सिद्धान्त के प्रतिमानों की सहायता से विकसित किया, जिसमें मंदिरों, मूर्तियों, मठों तथा प्रतिमा विज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका थी। ज्ञातव्य है कि शैव-सिद्धान्त सम्प्रदाय मुख्यतः मुनि-परम्परा के योगदान से उदित हुआ। इनमें भी कदवाहा स्थित कदम्बगुहाधिवासी (लगभग 675 ई.), उनके शिष्य सुरवाया (प्राचीन सरस्वती पत्तन) स्थित शंखमठिकाधिपति (लगभग 700 ई.), तदुपरांत इनके शिष्य तेराही (प्राचीन तेरम्बि ग्राम) स्थित तेरम्बिपाल (लगभग 750 ई.) एवं उनके शिष्य अमरोल (प्राचीन आमर्दक तीर्थ) स्थित आमर्दकतीर्थनाथ (रुद्रशम्भु) विशेष उल्लेखनीय हैं। तदनन्तर मत्तमयूरनाथ पुरन्दर आचार्य (लगभग 800 ई.) की अत्यधिक महिमा है। यह शिष्य-प्रशिष्य परिपाटी गोपाचल क्षेत्र में पुरन्दर के बाद क्रमशः कवचशिव, सदाशिव, हृदयशिव, व्योमशिव तथा पतंगशम्भु नामक आचार्यों के माध्यम से रत्नोद में लगभग 825 ई. से 950 ई. तक विद्यमान रही। उक्त सभी मुनि-आचार्यों के तपस्थान अथवा मठ घनघोर, बियाबान जंगलों में थे। आज भी इन अनेक स्थलों की अरण्यमय स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। इन सभी स्थलों पर उन तपस्वी-आचार्यों के समकालीन या परवर्ती मंदिर या मठ हैं, कहीं अकेले, कहीं जोड़ों में, या कहीं समूहों में, जो उनके प्राचीन वैभव के साक्षी हैं। यह सभी स्थल कभी तपोवन थे जहाँ एकांतरत शैव सिद्धान्त तपस्वी तप, ज्ञान, दर्शन एवं साधना का अनुसरण तथा अभ्यास करते थे। किन्तु कालान्तर में इन तपस्वी-आचार्यों के हस्तक्षेप से इनके स्वरूप में निवेश-मूलक अनेक परिवर्तन हुए। एवं, इनकी स्थिति ‘तपोवनों’ से ‘तीर्थों’ में बदल गई।

अपने पारम्परिक शास्त्रीय रूप में ‘तपोवन’ एकांत क्षेत्र का परिचायक



है जो हर प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं सांसारिक गतिविधियों से रहित भूखण्ड की झलक देता है। इन भूखण्डों में निवेश के साथ एवं अपने कठिन तपस्वी जीवनचर्या के कारण निश्चय ही शैव सिद्धान्त के तपस्वी आचार्य आटविकों के पर्याप्त निकट साहचर्य में आये। 'आटविकों' का इस क्षेत्र में वर्चस्व था तथा उनका साहचर्य एवं उनसे प्राप्त स्वीकृति एक अभूतपूर्व घटना थी जो अंततोगत्वा इन तपस्वियों की शक्ति-सम्पन्नता में सहायक हुई। ऐसे वातावरण में इन तपस्वियों का उत्कर्ष 'आटविकों' एवं शैव सिद्धान्त की मठ-परम्परा के मध्य एक अनौपचारिक समझौते की ओर इंगित करता है। जिसने आगे चलकर इन 'तपोवनों' को 'तीर्थों' में परिणत किया। उन्हें मठों एवं मंदिरों से समृद्ध किया (तपोवनं श्रेष्ठं मठं विधाय पृष्ठं प्रतिष्ठं परमं निनाय), एवं तपस्वी आचार्यों का राजनीतिक वर्चस्व स्थापित किया।

यह भी किञ्चित् आश्चर्यजनक किन्तु ध्यान देने योग्य विषय है कि शैव सिद्धान्त की पावन स्थली बहुधा सामरिक संघर्षों की युद्धभूमि बनी। यथा, तेरम्बिपाल नामक आचार्य द्वारा लगभग 750 ई. में स्थापित तेरम्बि ग्राम (तेराही) में 903 ई. में एक भयंकर युद्ध हुआ। जिसमें अनेक योद्धाओं ने वीरगति पाई। गुणराज के महासामंताधिपति एवं गुर्जर प्रतिहार सामंत उन्दभट के बीच हुए इस युद्ध में तेराही का 'कोट्टपाल' (दुर्गरक्षक) चंडियान मारा गया। उसकी पत्नी सती हुई। तेराही तथा अन्य स्थलों में ऐसे प्राणों का उत्सर्ग करने वाले युगलों के स्वर्गारोहण की स्मृति में सती स्तम्भ स्थापित हुए। इसी भाँति कदवाहा (प्राचीन कदम्बगुहा) में दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्थानीय मठ के आचार्य से सम्पर्क स्थापित करने के प्रयास में (गुर्जर प्रतिहार सामंत) गोभट ने सेनाओं सहित प्रयाण किया (तत्रा जगामोन्मद सिंधुराणं बलेन भूपः किल गोभटाख्यः) इस रणनीति में आचार्य के शरणागत चालुक्यराज की मृत्यु हो गई। अस्तु, मठ के शैव आचार्य ने द्रवित होकर शत्रु की सेना पर त्रिपुरांतक के समान युद्ध किया, विजय प्राप्त की जिसमें अपनी 'आश्चर्यजनक शक्ति' द्वारा उसने अनायास ही तीर-कमान प्रकट कर दिये जिनका युद्ध में प्रयोग हुआ। आचार्य का 'त्रिपुरांतक इव' यह योद्धा रूप इन मुनियों की एक अनोखी, युयुत्सु भूमिका प्रस्तुत करता है। कदवाहा के इतिहास में मठ से सम्बन्धित अन्य रक्तरंजित सन्दर्भ भी है, जिनमें मठ पर उन्नीस (19) आक्रमणों का उल्लेख है और अंततोगत्वा भूतेश्वर नामक आचार्य द्वारा मठ की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने का विवरण है। पुण्यभूमि में युद्धों के प्रकरण एवं आचार्य की त्रिपुरांतक सम युयुत्सु भूमिका मठों एवं उनके 'स्थानपति' आचार्यों की सामरिक

शक्ति के साक्षी हैं। सम्भवतः यही कारण है कि दूरस्थ स्थापित राजा इन मठों एवं आचार्यों के सम्मुख नतमस्तक होकर या दीक्षा लेकर, उनके संरक्षण के लिए लालायित रहे होंगे, ताकि असुरक्षित क्षेत्र में भी उनका सांकेतिक आधिपत्य तपस्वी आचार्यों के माध्यम से सुरक्षित रहे।

कदवाहा एवं तेराही जैसे शैव सिद्धान्त से जुड़े पावन स्थलों का युद्धमय इतिहास यह प्रमाणित करता है कि तत्कालीन राजनीति से मठों एवं मंदिरों का पारस्परिक घनिष्ठ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा होगा। तेराही के मोहजमाता मंदिर (11वीं शती) पर विशेष रूप से प्रेत और योगिनी मूर्तियाँ और उनके कामाचारी स्वरूप तथा अन्य शैव सिद्धान्त स्थलों के मंदिरों में युद्ध के देवता कार्तिकेय की मूर्तियाँ युद्धों के प्रतिबिम्ब हैं। तेराही एवं महुआ के मंदिरों में चामुण्डा तथा अन्य मातृकाओं का प्रभुत्व इसी निष्कर्ष की ओर इंगित करता है। कदवाहा के एक मंदिर तथा पढ़ावली के मठ में योद्धाओं की मूर्तियाँ हैं। पढ़ावली में एक योद्धा की तलवार दूसरे के वक्ष को चीरती हुई आर-पार दिखाई गई है। ऐसी मूर्ति योजना शैव सिद्धान्त के मूलभूत देव सम्प्रदाय के साथ तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का परिचय देने में समर्थ प्रतीत होती है।

वस्तुतः उत्तरी मध्यप्रदेश के गोपाचल क्षेत्र में प्रादुर्भूत शैव सिद्धान्त का इतिहास एक सतत विकासशील प्रक्रिया का इतिहास है। जो पहले उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी एवं मध्यवर्ती मध्यप्रदेश में सातवीं से तेरहवीं शती तक विकसित हुई, फिर राजस्थान (960 ई.), उड़ीसा एवं महाराष्ट्र (10-11वीं शती), आंध्र प्रदेश (1236-1291 ई.) और तमिलनाडु (ग्यारहवीं से चौदहवीं शती) तक विस्तीर्ण होती गई। यहाँ हम केवल उसके उत्तरी मध्यप्रदेश में विकास की चर्चा कर रहे हैं। शैव सिद्धान्त की यह समृद्धि उसके विचारात्मक एवं भौतिक दोनों ही पक्षों को स्पष्ट करती है। विचारात्मक पक्ष में वे सिद्धान्त हैं जिन्हें इन्होंने अपनाया और भौतिक पक्ष में वह वस्तुस्थिति है जो मठों, मंदिरों के माध्यम से रूपांतरित हुई। इस भाँति शैव सिद्धान्त के विस्तृत प्रभाव क्षेत्र की सीमाएं निर्धारित हुई। इस मत के विस्तार का सटीक विवरण रत्नोद के अभिलेख में है, जहाँ इसके उत्तरोत्तर विस्तार तथा अनेक विकासमान शाखाओं का विवरण मिलता है (विपुल वर्धित भूरिशाखः)। अभिलेखों में इसकी व्यापकता के संदर्भ में विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग है, जिनमें उल्लेखनीय है, 'गुहा', 'तपस्थान', 'तपोवन', 'आश्रम', 'वसति', से लेकर विशाल भूभाग, यथा, 'पद्र' (अथवा 'पद'), 'तीर्थ', 'पत्तन', 'विषय', 'प्रदेश', 'उर्वी' एवं 'दिशः'। यह शब्दावली

स्पष्टतः शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय के सुदीर्घ विस्तार के निवेशों और परिधियों को निर्दिष्ट करती है।

उक्त विभिन्न निवेशीय इकाइयाँ एवं उनके भौगोलिक नाम उन स्थलों की ओर इंगित करते हैं जो इस क्रान्तिकारी मत के प्रभाव के अन्तर्गत निर्बाध रूप से आते गये। और, अनेक क्षेत्रों में इस मत की भौगोलिक परिधि का प्रसार और विस्तार होता गया। इनमें 'विषय' और 'प्रदेश' जैसे शब्दों के राजनीतिक संदर्भ सम्भव हैं। यद्यपि इनके विशिष्ट नाम अभिलेखों में नहीं हैं परन्तु अन्य संदर्भों में प्रशासनिक इकाइयों के दृष्टान्त पर इनकी राजनीतिक अर्थ में क्षेत्रीय भूभाग के रूप में मान्यता सम्भव है। 'पत्तन' का तात्पर्य व्यापारिक मण्डी से है। 'तीर्थ' का धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिप्राय है, जबकि 'पद्र' एक ऐसी भौगोलिक इकाई है जो वनप्रान्तों में अथवा उसकी सीमाओं पर बसे निवेशों की ओर संकेत करती है। अर्थात् वह भूभाग जहाँ निवेशों के विस्तार से एकाकी एवं घनी बस्तियों के बीच का भेद लुप्तप्राय हो रहा हो। किन्तु इनसे भी बढ़कर व्यापक विस्तार के अर्थ में 'उर्वी' एवं 'दिशः' शब्दों का प्रयोग शैव सिद्धान्त के चतुर्दिक प्रसार के विषय में है। इन अभिधानों में सिद्धान्त एवं सिद्धान्तियों की असीम सत्ता की कल्पना है; एक ऐसी भावात्मक सीमा जो संकीर्ण परिधियों का उल्लंघन कर जाती है। अपने प्रारम्भिक चरण में इन तपस्वी आचार्यों की स्थिति बहुल जनसंख्या वाले स्थान से दूर एकाकी वनप्रान्तर तक ही सीमित थी। इस परिप्रेक्ष्य में उनके तथा उनके मत के असीम विस्तार की अद्भुत कल्पना अद्वितीय है। यह भी स्पष्ट है कि तपस्वियों द्वारा तप हेतु चयनित सामान्य कोटि के ये तपोवन आगे चलकर 'वसति', 'मठिका', 'मठ', 'पत्तन', एवं 'तीर्थ' के रूप में स्वतः ही विकसित हुए। इस विकास में राजशक्ति या राजसंरक्षण का लेशमात्र अनुदान कम से कम पुरंदर (लगभग 800 ई.) के समय तक अज्ञात है। राजाओं के संरक्षण से स्वतंत्र रहकर इन्होंने ख्याति, समृद्धि और शक्ति प्राप्त की। यही ख्याति एवं समृद्धि कालान्तर में इनके राजनीतिक संरक्षण का कारण बनी।

प्राप्त साक्ष्यों से विदित है कि उक्त क्षेत्रों में तपस्वियों के निवसन का शुभारंभ उनके उत्कर्ष के काफी समय पूर्व हुआ। शासकों का पर्दापण बाद की घटना थी। निर्जन वनों में 'तपस्थान', 'मठ' एवं 'आश्रय' की स्थापना इस क्षेत्र में उनके स्व-अर्जित वर्चस्व को सिद्ध करती है। कालान्तर में राजाओं ने इन तपस्वियों की महत्ता का लाभ उठाया। उन्हें भेंट इत्यादि देकर उनसे दीक्षा

प्राप्त करके, उनकी कृपा का आवाहन किया, जिसके प्रमाण अभिलेखों में हैं। इस भाँति सारे विशेषाधिकार उनके तपस्थान में ही उन्हें प्राप्त होते गये। सिद्धान्त एवं सैद्धान्तियों का उत्कर्ष इन परिस्थितियों में वनवासी 'आटविक' जनजातियों में उनकी सहज मान्यता एवं वनों में उनके वर्चस्व को प्रकट करता है। इस प्रक्रिया में, ये तपस्वी आचार्य तथा उनके मठ एक ओर राजनीतिक व्यवस्था, नगरीय व्यापारिक गतिविधियों (जैसे सार्थवाहों का आना-जाना), से और दूसरी ओर इन गतिविधियों एवं व्यवस्था के विरुद्ध वनप्रांतरों की जीवन पद्धतियों के बीच मध्यस्थ बने। ये आचार्य वन-प्रांतरों पर वर्चस्व अर्जित करते हुए वहाँ के जन-संकुलों से जुड़े रहने की प्रवृत्ति भी प्रदर्शित करते हैं। एक अभिलेख में "प्राणिनाम्" एवं "प्रजा" के हित की कामना का उद्घोष उनके वचनों में स्पष्टतः रेखांकित है। यद्यपि इस वक्तव्य में किसी विशेष घटना या संदर्भ का दृष्टान्त नहीं है। तपस्वियों का यह संरक्षक रूप अंततः राजाओं एवं 'आटविक' जनजातियों के बीच मध्यस्थता की भूमिका में उनके महत्व को स्थापित करते हुए उनकी शक्ति को क्रमशः विकासोन्मुख करता प्रतीत होता है। अभिलेखों से यह सूचना स्पष्ट है कि गोपाचल के वन-प्रांतरों में गंगा घाटी जैसी सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना नहीं थी। सातवीं से नवीं शताब्दी तक यहाँ वैश्य सत्ता थी। क्षत्रिय कृषिकर्म में संलग्न थे। ब्राह्मण लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम उल्लेखित हुए। यज्ञोपवीतधारी एक राजा अपने को एक सूत्र से विभक्त आधा ब्राह्मण और शेषार्ध क्षत्रिय घोषित करता है। राजनीतिक गतिविधियाँ "भटों" या आटविक "वीरों" के नियंत्रण में थीं, जैसे वायिल्लभट, उन्दभट, गोभट, दुर्भट आदि जो "भट" से "कोट्टपाल" (मर्यादाधुर्य), "सामंत", "महासामंताधिपति", 'नृप', 'भूप', 'महाराजाधिराज', 'नृपचक्रवर्ती' आदि बनते चले गये। सामंत की भूमिका वहन करने वाले एक "भट" (दुर्भट) ने "महाराजाधिराज" विरुद्ध अंगीकार किया जबकि वह गुर्जर प्रतिहारों का सामंत था। यह विवरण सियादोनी अभिलेख में है।

शैव सिद्धान्त एवं उसके आचार्य ऐसे आटविक "भटों" के बीच मठों से बढ़ते हुए एक अपार विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो गये। सिद्धान्त मत का यह विकास "स्थानीय" नहीं था। इसमें निश्चय ही "आटविक" जनसंकुल भी सम्मिलित हुए। क्षेत्रीय दृष्टि से इन मठों का नियंत्रण वनों से दूरस्थ क्षेत्रों तक विस्तृत होता गया और इन्हें राजा तथा प्रजा तथा इन दोनों से स्वतंत्र आटविक जनजातियों ने भी मान्यता दी। इस भाँति शैव सिद्धान्त एवं इसके आचार्यों के प्रभाव के नये सीमान्त निर्धारित हुए जिनमें व्यापक भौगोलिक क्षेत्र अनवरत



समाहित होते गये। विशिष्ट मठों एवं उनके प्रभावशाली तपस्वियों के योगदान से शैव सिद्धान्त का विस्तार निरन्तर होता रहा क्योंकि इन माध्यमों से नित्य नवीन क्षेत्र इसके आधिपत्य में आते गये। गोपाचल क्षेत्र में सैद्धान्तियों ने उत्तर में मुरैना जिले से लेकर दक्षिण में गुना जिले तक अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। यह विस्तार सातवीं से दसवीं शताब्दी तक हुआ, तथा, जहाँ भी सैद्धान्ती मठ स्थापित हुए वहाँ मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस भाँति कला एवं वास्तु शिल्प भी सैद्धान्तिकों की शक्ति स्थापना के महत्वपूर्ण साधन बने एवं इनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दृढ़तर होता गया। भूमिका के रूप में इस विवरण के बाद शैव सिद्धान्त एवं उसके आचार्यों से सम्बन्धित मठों का, साथ ही उनसे सम्बद्ध मंदिरों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

## मठ

शैव सिद्धान्त एवं इससे सम्बन्धित तपस्वी-आचार्यों के केन्द्र उनके मठ थे। यह मठ कदवाहा, (जि. गुना), सुरवाया (जि. शिवपुरी), रन्नोद एवं तेराही (जि. शिवपुरी) में क्रमशः निर्मित हुए। कदवाहा प्रारंभ में कदम्बगुहाधिवासी से सम्बन्धित था। मठ की स्थापना यहाँ बाद में हुई। लगभग 800 ई. में चालुक्य राजा अवनिवर्मन ने सम्भवतः इसे पुनर्स्थापित कर यहाँ रन्नोद से पुरंदर आचार्य को आमंत्रित कर, स्थापित किया। अन्य सभी मठ शैव सिद्धान्त के आचार्यों ने ही बनवाये और गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा इन्हें समृद्ध किया। रन्नोद अभिलेख के अनुसार पुरंदर कदवाहा के मठ में पुनः स्थापित हुए किन्तु उन्होंने अपने शिष्य कवचशिव के लिए रन्नोद में एक दूसरा मठ बनवाया। विवरणों से स्पष्ट है कि कदवाहा एवं रन्नोद के मठ लगभग 800 से 829 ई. में बने। प्रारम्भिक शैव सिद्धान्त के केन्द्र के रूप में कदवाहा मठ का दीर्घकालीन पुनीत इतिहास है। जिसका आरम्भ कदम्बगुहाधिवासी के साथ 675 ई. में हुआ। विक्रम संवत् 1587 तक यह परम्परा कदवाहा में जीवित रही। इस परम्परा के अन्तर्गत कदवाहा के एक प्रतिष्ठित तीर्थस्थल होने की पुष्टि अभिलेखों से होती है। रन्नोद में शैव सिद्धान्त लगभग 11वीं ईसवी तक फलता-फूलता रहा। लगभग 825 ई. से 973 ई. तक यहाँ कम से कम पाँच (5) मंदिर, चार (4) मठ, छह (6) पावन सरोवर, एक प्राचीरयुक्त घेरा, कुएँ, बगीचों एवं उपवनों का निर्माण हुआ। यहाँ के मंदिर शिव, उमा, नटेश एवं विनायक के थे। वर्तमान में इनमें से केवल एक मठ और एक सुनिर्मित वापी ही अवशिष्ट है।

सुरवाया (प्राचीन सरस्वती पत्तन) का तपस्थान लगभग 700 ई. में शंखमठिकाधिपति नामक तपस्वी आचार्य के समय में स्थापित हुआ। कालान्तर में स्थानीय शैव सिद्धान्त मठ आठवीं ईसवी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मठ के रूप में विकसित हुआ। आगे चलकर 1292 ई. में सुरवाया के विशाल मठ के चतुर्दिक एक सुरक्षात्मक प्राचीर बनाकर इसे सुरक्षित किया गया। आज इस मठ की दोहरी प्राचीरें, द्वार, परिखा विद्यमान हैं, जो इसके प्राचीन वैभव की साक्षी है।

शिवपुरी जिले में तेराही (प्राचीन तेरम्बि ग्राम) तपस्वी आचार्य तेरम्बिपाल (लगभग 725 ई.) नामक शैव सिद्धान्त आचार्य द्वारा स्थापित हुआ, जब उन्होंने इसे तपस्थान के रूप में चुना। तेराही का मठ एवं इसके पार्श्व में बना मंदिर नवीं शताब्दी की कृतियाँ हैं। तेरम्बि मठ से सम्बन्धित शैव सिद्धान्ती आचार्य परम्परा की एक स्वतंत्र उपशाखा के विकास के संकेत मिलते हैं क्योंकि इस स्थान से विनिर्गत आचार्य गगन शिव ने रानीपुर झरियाल (उड़ीसा) में दसवीं-ग्यारहवीं ईसवी से शिव का मंदिर बनवाया जिसके अभिलेख में स्तुति है कि शिव "बंध" से मुक्ति दें (जगत्पतिर्बंधं वा मोक्ष ददासि गगनैकस्त्वयं प्रभुः शिवः) इस आचार्य ने रानीपुर झरियाल में 'तेरम्बि' ग्राम की स्थापना की एवं मूल से इसका भेद स्पष्ट करने के लिए इसने मूल तेरम्बि को "उत्तर तेरम्बि" संज्ञा दी। स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शती में यहाँ मठ परम्परा पनप रही थी। लगभग उसी समय में मूल तेराही में मोहजमाता (चामुण्डा) का एक मंदिर निर्मित हुआ।

शिवपुरी जिले के महुआ (प्राचीन मधुमती) नामक स्थान पर भी एक मठ के प्रमाण अभिलेखों से ज्ञात हैं। सातवीं शताब्दी में ही इस पुण्यभूमि का उद्घाटन शिव-धूर्जटी को समर्पित एक "मंडपिका" के निर्माण से हुआ। लगभग 800 ई. में एक अन्य भव्य शिव मंदिर महुआ में पुनः निर्मित हुआ। तदुपरांत यहाँ चामुण्डा के मंदिर का नवीं शती में निर्माण हुआ। कदम्बगुहा (कदवाहा जि. गुना) की मत्तमयूर शाखा के मठ एवं आचार्यों से सम्बन्धित मधुमती सिद्धान्त के केन्द्र के रूप में कालान्तर में प्रसिद्ध हुई। आज महुआ में कोई मठ विद्यमान नहीं है। परन्तु यह क्षेत्र सैद्धान्तियों के "धाम" (आवास) के रूप में प्राचीन काल में प्रसिद्ध था (मधुमतीधाम सैद्धान्तिकाम्) जिससे यहाँ किसी प्राचीन मठ की स्थिति का स्पष्टतः बोध होता है।

नवीं शताब्दी में सम्भवतः गोपाद्रि (गोपालिकेर, ग्वालियर) में भी एक

सिद्धान्त मठ था। यह मठ अब लुप्त है किन्तु ग्वालियर स्थित 'गोरखी' नामक स्थान में इसकी स्मृति आज भी विद्यमान है। यह 'गोरखी' सैद्धान्तिकों के जबलपुर के निकट स्थित "गोलकी मठ" या आंध्र के मलकापुरम अभिलेख में चर्चित "विश्वेश्वर गोलकी" मठ का स्मरण दिलाता है। ग्वालियर के नवीं शती के एक अभिलेख में "स्थानाधिकृत" का उल्लेख है। जो इस मठ का "स्थानपति" रहा होगा। स्थानीय अभिलेखों में यहाँ 'विशाख' एवं 'नवदुर्गा' के मंदिरों के भी उल्लेख हैं। ग्वालियर की भाँति नरेसर, बटेसर, पढ़ावली (जिला मुरैना) और केलधार (जि. शिवपुरी) में भी सैद्धान्तिक मठ थे जो अब लुप्त हो गये हैं। किन्तु नरेसर में पहाड़ी चट्टानों के साथ 'तपस्थान' के रूप में एक एकांत स्थल स्पष्ट दृष्टिगोचर है। शैव सिद्धान्त के ये विभिन्न मठ शैव तपस्वी आचार्यों के सुदृढ़ गढ़ थे और रत्नोद मठ की भाँति ये 'धन, धान्य, हिरण्य, रत्न', 'हिनहिनाते हुए घोड़ों' और 'घिंघाड़ते हुए हाथियों' से युक्त थे। इन सभी मठों के परिसर में या साथ में अथवा निकटस्थ स्थलों में विभिन्न मंदिर थे। मठों के परिसर में स्थापित मंदिर आज भी सुरवाया तथा कदवाहा में दृष्टव्य हैं। ये मठ समीपस्थ मंदिर सार्वजनिक उपयोग के लिए नहीं थे वरन् मठाधीश आचार्यों के अनुष्ठान एवं पूजा के लिए एकमात्र उन्हीं के लिए रहे होंगे।

## मंदिर

उत्तरी मध्यप्रदेश में गोपाचल क्षेत्र की वास्तुकला सुदृढ़ एवं सुसंगठित परम्परा की परिचायक है। इनमें उत्तर भारतीय "लतिन" प्रकार के शिखर वाले मंदिरों की छाप है। इनके विकास क्रम का निर्धारण किंचित विवादास्पद है। अभिलेखीय साक्ष्यों में हमें केवल धूर्जटी-शिव (महुआ) और विशाख तथा दुर्गा (ग्वालियर) के विषय में सूचना प्राप्त है। आर. डी. त्रिवेदी ने इनकी व्याख्या गुर्जर प्रतिहार वंश के संदर्भ में की है। किन्तु आठविक प्रदेश के सांस्कृतिक संदर्भों की दृष्टि से अधिकांशतः नगरों से दूर वनों में, मठों के साथ स्थापित मंदिरों के निर्माण के राजकीय संदर्भ प्रमाणित नहीं होते। महुआ, तेराही, बटेसर, नरेसर, पढ़ावली, डांग, केलधार, आदि के प्राचीन अरण्य क्षेत्र में इन मंदिरों की स्थापना एवं निर्माण सैद्धान्तिक आचार्यों के संरक्षण के द्योतक हैं। माइकेल विलिस द्वारा शैली के आधार पर इन मंदिरों का वर्गीकरण (i) प्रारम्भिक (ii) परिपक्व एवं (iii) गुर्जर प्रतिहार समूह में प्रस्तावित किया गया है जिनका विकासक्रम लगभग 600 ई. से गुर्जर प्रतिहार युग तक था। विलिस के अनुसार इन मंदिरों की शृंखला के तुरन्त बाद दसवीं शती के

पूर्वार्ध में अन्य मन्दिरों का भी गोपाचल क्षेत्र में निर्माण हुआ। किन्तु मंदिर निर्माण की प्रक्रिया वस्तुतः तेरहवीं शती तक गोपाचल क्षेत्र में पनपती रही। मधुमती (महुआ) में स्थापित 'मंडपिका' के निर्माण से इस क्षेत्र में मंदिरों के विकास का चक्र लगभग 675 ई. में प्रवर्तित हुआ, जो अनेक सदियों तक चलता रहा। इनमें शैव सिद्धान्त परम्परा का सुनिश्चित निर्वाह है। इन मंदिरों के भौगोलिक अंचल का केन्द्र गोपाद्रि (गोपगिरि, ग्वालियर) था। अतएव इस शैली का नाम "गोपाद्रि शैली" सर्वथा समीचीन है। इनका कालगत वर्गीकरण इस लेख के द्वितीय एवं तृतीय खण्डों में है।

## मूर्तियाँ

गोपाचल क्षेत्र के मंदिर एवं उनमें स्थापित मूर्तियाँ (सातवीं से दसवीं शताब्दी) मुख्यतः शैव धर्म प्रधान हैं। इनकी अनेक निजी विशेषताएँ हैं, जिनमें प्रथम है इनका एक सीमित देव समुदाय जिसको प्रारम्भिक मंदिरों की मूर्ति योजना में निरन्तर दोहराया जाता रहा। मूर्तियों की परम्परा में समकालीन जनसंकुलों (Community) के विश्वासों की झलक है, विशेषतः स्थानीय देवियों की। ऐसे ही स्थानीय विश्वास यहाँ के सती स्तम्भों में परिलक्षित होते हैं। कुशलतापूर्वक गढ़े गये स्मृति स्तम्भों की इस क्षेत्र में भरमार है। ये स्तम्भ तथा इन पर बने दृश्य और अभिलेख, इस क्षेत्र में 'गोहरण' में, युद्धों में या अन्य कारणों से दिवंगत हुए नायकों की स्मृति में हैं जिनमें सती की परम्परा भी प्रकट है। यह परम्परा इतनी प्रबल थी कि सेसई (जि. शिवपुरी) के एक स्मृति स्तम्भ में पुत्र के वियोग में माता के द्वारा आत्मदाह का उल्लेख है। अधिकांशतः गोपाचल के स्मृति स्तम्भों में वीरगति प्राप्त योद्धाओं के प्रति शोक एवं उनकी प्रतिष्ठा का समारोहपूर्वक अंकन है। मूर्तिकला में उत्सव, शोभा यात्रा, युद्ध, वन्य पशु पंक्तियाँ आदि भी क्षेत्रीय जीवन को स्पष्टतः प्रकट करती हैं। युद्ध के दृश्य यदा कदा इनमें बड़े सजीव हैं। पढ़ावली के एक ऐसे अंकन का उल्लेख हम कर चुके हैं। ऐसे युद्ध के अंकन कदवाहा में भी हैं। सुरवाया के मंदिर (संख्या 1) में मण्डप के स्तम्भों पर कौपीनधारी तरुण एवं मध्य वय के शैव तपस्वियों की प्रफुल्ल आकृतियाँ हैं। द्वार शाखाओं पर बनी उनकी युगल मूर्तियाँ शैव सिद्धान्त तपस्वियों के वर्चस्व की साक्षी हैं। इनमें भी धुबोन (जिला गुना) के कुछ मंदिरों में भद्र भाग के प्रमुख देव कोष्ठकों के शीर्ष पर आसीन शैव आचार्यों की प्रभावशाली मूर्तियाँ इनकी शक्ति-सम्पन्नता व्यक्त करती हैं। जैसे, ये आचार्य देव कोष्ठकों में आबद्ध देवों के नियंत्रक रक्षक हों। सम्भवतः



प्रारम्भ में कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार एवं तदुपरांत चंदेलों की राजसीमाओं से दूर होने के कारण इस क्षेत्र में एक स्वतंत्र आंचलिक चरित्र उभरकर आया और शैव सिद्धान्त की सर्वोपरि मान्यता से उसे समुचित एवं स्वतंत्र प्रश्रय प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह कला प्रतिस्पर्धात्मक एवं सह-धर्मात्मक दोनों ही परम्पराओं का पालन करती रही। इनमें शैव अनुष्ठान और समारोह के साथ प्रेतों के सामूहिक नृत्य का भी विकट चित्रण है (पढ़ावली)। यह विकटता ग्यारहवीं शताब्दी की तेराही की प्रेत एवं योगिनियों की प्रेमलीलारत मूर्तियों में और भी प्रखर है। इनमें पैशाचिक काम क्रीड़ा के चित्रण हैं। शैव सैद्धान्तिक आधार अभिलेखों एवं मूर्ति-योजना में निरन्तर प्रकट होता है। दसवीं शताब्दी के एक अभिलेख में प्रबोधशिव नामक शैव आचार्य की तुलना कार्तिकेय से एवं प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों में कार्तिकेय की मूर्तियों की निरन्तर स्थिति इस आधार के साक्षी हैं। अभिलेखों में तपस्वी आचार्यों द्वारा तप की महिमा पर बल दिया गया है। मूर्तियों के चयन में भी तप एवं त्याग की कथावस्तु को बहुधा प्रधानता दी गई है। फलस्वरूप तपनिष्ठ, योगपट्ट से अलंकृत लकुलीश की मूर्तियाँ गोपाद्रि मंदिरों में (नरेश्वर, बटेश्वर, इन्दोर, अमरोल, डांग, कैलधार, ग्वालियर (तेली का मंदिर) विद्यमान हैं। इनका अंकन देवकोष्ठकों में या मंदिर की शुकनासिका पर स्थित गवाक्ष में हाथ में दण्ड लिये, योगपट्ट सहित किया गया है। तेली के मंदिर (ग्वालियर) में लकुलीश को उनके चार शिष्यों—कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और कौरुष के साथ प्रदर्शित किया गया है। इसमें लकुलीश के मिथक का स-समारोह समायोजन है।

शैव सिद्धान्त से प्रभावित प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों में पार्वती को प्रायः पंचाग्नि तप में रत प्रदर्शित किया गया है, यद्यपि कल्याणसुंदर प्रतिभाओं में वे शिव के साथ पाणिग्रहण की मुद्रा में अंकित हैं। पार्वती के ये दोनों ही रूप ध्यान देने के योग्य हैं। एकाकी अथवा शिव के साथ उमा 'ईश्वर' की 'शक्ति' के रूप में सिद्धान्त दर्शन के दार्शनिक विश्वास की परिचायक हैं। इस दर्शन में शिव ईश्वर अपने एकाकी, इंद्रियातीत रूप से द्वैत रूप धारण करते हैं। इस प्रक्रिया में 'शक्ति' वह क्रियात्मक माध्यम है जिसके समावेश से 'ईश्वर' का 'शुद्ध चैतन्य' रूप आत्मा की चेतना के साथ गोचर होता है। इस 'चेतना' से तात्पर्य 'ईश्वर के उस साक्षात्कार से है जिसके अनुसार जो भी सतही ढंग से प्रकट हो, वह 'शुद्ध सत्य' नहीं वरन् केवल बुद्धिभ्रम है। तांत्रिक उद्बोधनों में 'शक्ति' के विभिन्न रूपों की एक लम्बी शृंखला है। जैसे 'आनंदशक्ति', 'इच्छाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति', 'क्रियाशक्ति', इत्यादि जिनकी सहायता से उस सत्य

(Reality) का साक्षात्कार होता है जो 'मुक्ति' का साधन है। 'जीव' की मुक्ति 'ईश्वर' के 'अनुग्रह' से 'दीक्षा' से या अन्य 'उपायों' से होती है। इस सम्पूर्ण समायोजना में पार्वती की पंचाग्नि तप प्रतिमा सैद्धान्तिक तपस्या की ओर इंगित करती है जिसमें 'शक्ति' (पार्वती) अपने विभक्त रूप में 'ईश्वर' से एकाकार होने की प्रतीक्षा करती हैं। दूसरी ओर, कल्याणसुंदर रूप में दक्षिणांगी शक्ति 'ईश्वर' से असंप्रक्त उस श्रृंखला को उद्देलित करती है, जो शिव को अतीन्द्रिय की अपेक्षा गोचर रूप में परिवर्तित करने में समर्थ है। गोपाद्रि शैली की शिव-शक्ति की कल्याणसुंदर मूर्तियों में देवताओं को स्वर्ग से इस सुंदर दृश्य को देखते हुए प्रदर्शित किया गया है। और, इस प्रकार, मंदिरों की मूर्ति योजना में उमा सिद्धान्तिक देवसमूह की अविभाज्य पहचान के रूप में स्थापित हैं।

शैव सिद्धान्त दर्शन से ही सम्बन्धित एक सदाशिव प्रतिमा (नरेसर, पुरातत्व संग्रहालय, ग्वालियर) इसी प्रकार उसके धार्मिक पहलू को प्रकट करती है। इसमें शिव का चतुष्पाद रूप शैव सिद्धान्त के चतुष्पाद अर्थात् ज्ञानपाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद का परिचायक है। शिव का चतुष्पाद रूप एक चतुर्भुज युक्त लिंग की एक मूर्ति में उकेरा गया है। लिंग के विभिन्न मुखों पर बनी अन्य प्रतिमाओं में उनके विभिन्न स्वरूप अंकित हैं। किन्तु एक मुख पर चतुष्पाद के प्रसंग की मूर्ति में द्विभुज शिव ध्यानमुद्रा में आसन्न हैं। मूर्ति में पीठिका के भाग पर उनके दो अतिरिक्त हाथों और दो अतिरिक्त पैरों के छापे अलग से उकेरे गये हैं। जिनसे उनका चतुर्भुज एवं चतुष्पाद रूप सांकेतिक विधि से अत्यन्त प्रखर हो, उभरा है। शिव चतुष्पाद का यह अंकन अपूर्व एवं अद्वितीय है। अन्यत्र, जैसे खजुराहों में भी शिव की चतुष्पाद प्रतिमाएं ज्ञात हैं। किन्तु नरेसर प्रतिमा जैसी योजना अन्यत्र नहीं मिलती। इसी लिंग प्रतिमा पर एक अन्य मुख पर बनी मूर्ति में शिव की उंगलियों पर टिका मृग भी सांकेतिक है। 'मृग' का तात्पर्य 'जीव' से है। उंगलियों की पकड़ उस 'पाश' की ओर इंगित करती है जो 'जीव' को बाँधती है और उस पर शिव (पति) का अबाध नियंत्रण है। सिद्धान्त दर्शन 'पशु', 'पति' और 'पाश' के प्रत्ययों को रूपांतरित करता है। इसके प्रस्तरजन्य उदाहरण सिद्धान्त के प्रभाव के साक्षी हैं।

स्पष्ट है कि प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिर शैव सिद्धान्त मूर्ति योजना के अनुरूप हैं। इसके अन्य प्रमाण भी हैं। एकाकी मातृका मूर्तियाँ (सकरा), अथवा इनकी सामूहिक मूर्तियाँ (इन्दोर, जिला गुना), सिंहवाहिनी दुर्गा

(तेली का मंदिर, ग्वालियर), चामुण्डा (महुआ, पढ़ावली, तेराही), विनायक (सुरवाया आदि), वैनायकी (इन्दौर), शैव सिद्धान्त में शक्ति के समावेश एवं गणेश की महत्ता के परिचायक हैं। मातृकाओं के परिवर्तन—प्रायः अनेक रूप गोपाद्रि क्षेत्र में मातृका पूजन के विभिन्न संदर्भ, विशेषकर देव समुदाय पर इनका वर्चस्व प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार, अन्य स्रोतों से अज्ञात किन्तु गोपाचल क्षेत्र की पूजा परम्परा में स्वीकृत मेघाली, जम्या, निवाऊ, मायावती, वैराही, विकटंजा नामधारी विशिष्ट देवियों को मातृकाओं के समूह में सम्मिलित किया गया। नरेश्वर से इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इस मूर्ति समूह में उलूक पर आरूढ़ एक उलूकमुखी मातृका मूर्ति भी है। ये मूर्तियाँ संप्रति ग्वालियर के गूजरी महल स्थित पुरातत्व संग्रहालय में सुशोभित हैं। ये मूर्तियाँ बारहवीं शताब्दी में वामदेव रावल द्वारा स्थापित की गई थीं। गोपाचल क्षेत्र के अभिलेखों में 'महारुण्डा' एवं 'आम्रलोहिता' नामक देवियों का भी उल्लेख है। मातृकाओं और देवियों के समुदाय में स्थानीय मातृकाओं के उक्त विभिन्न रूप सिद्धान्त मत के स्थानीय आंचलिक स्वरूप के भी परिचायक हैं जिसमें धर्म समुदाय के पक्ष भी सम्मिलित हैं। सिद्धान्त मत स्त्रियों के संसर्ग के विरुद्ध था। उसके मठों में रात्रि में स्त्रियों के प्रवेश का निषेध था। अस्तु, यह विडम्बना ही है कि इस मत में देवियों को इतना महत्वपूर्ण स्थान मिला।

शैव सिद्धान्त की गोपाचल परम्परा में शिव, उमा, कार्तिकेय, गणेश एवं सरस्वती की प्रधानता है। इनकी समायोजना मंदिरों में भी है। ये देवियाँ या देवता मंदिरों के देवकोष्ठकों में आसीन किए गए हैं। आठवीं शताब्दी में गोपाद्रि मंदिरों में अष्टदिग्पाल अंकित करने की प्रवृत्ति भी प्रारम्भ हुई। इनका सर्वप्रथम अंकन अमरोल (रामेश्वर महादेव तथा दाने बाबा का मंदिर) में है। भिंड जिले के डांग के मंदिर से कृष्ण लीला के कतिपय प्रसंग भी उपलब्ध हैं। कृष्ण लीला के अंकन ग्वालियर के चतुर्भुज मंदिर (प्राचीन वायिल्लभट्टस्वामी मंदिर) में भी हैं। किन्तु देव समुदाय के समूह में दीर्घकाल तक प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों में अधिक परिवर्तन नहीं मिलता। यदा कदा, मंदिरों के विशिष्ट भागों पर अज एकपाद (बटेसर, तेली का मंदिर, ग्वालियर), गजासुर संहार मूर्ति, जिन प्रतिमा (तेली का मंदिर), सूर्य एवं विष्णु (नरेश्वर), कुबेर (नरेश्वर) भी मिलते हैं। पार्वती के एक अंकन में पचाग्नि तप के बजाय गोह (गोध) सहित 'गौरी' रूप भी केलधार से ज्ञात है। इस सम्पूर्ण मूर्तियोजना में परिवर्तन की झलक ग्वालियर के वायिल्लभट्टस्वामिन् (चतुर्भुज) मंदिर की वैष्णव मूर्तियों में तथा

सेसई (जिला शिवपुरी) के सूर्य मंदिर में हैं।

थुबोन एवं कदवाहा (जि. गुना) में परवर्ती गोपाद्रि शैली के मंदिरों में सिद्धान्त देवकुल विस्तृत हुआ। विशेषकर दसवीं शताब्दी एवं तदुपरांत मातृकाएं, गणेश, दिग्पाल, सयुग्म वैनायकी (थुबोन) वैष्णव देवी-देवताओं के साथ इस देवकुल में सम्मिलित हो गये। शैव मूर्तियों में अब तपस्वी-आचार्यों की मूर्तियों का भी समावेश हुआ। विशेषकर सुरवाया, थुबोन एवं पढ़ावली में। थुबोन में उन्हें देवकोष्ठकों पर आरोहित किया गया है। सुरवाया में मंदिर (संख्या 1) में मण्डप के स्तम्भों पर इनकी भीड़ है।

उपर्युक्त विवरण शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय के गोपाचल क्षेत्र की कला सामग्री पर प्रकाश डालते हैं। इनसे मंदिरों के निर्माण एवं अलंकरण में सिद्धान्त के संरक्षण का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रकट है कि मंदिर, मूर्तियाँ, मठ इस मत के साँचे में पूरी तरह ढल गये। सिद्धान्त धर्म और दर्शन पद्धति ने इनका उपयोग अपने मत के विकास एवं संवर्धन में किया। और इनकी सहायता से इस मत ने निरन्तर नये भूखण्डों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

## II

### प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली में मंदिर वास्तु (सातवीं से दसवीं शताब्दी)

ग्वालियर एवं चंबल सम्भाग सहित उत्तरी मध्यप्रदेश एक विशिष्ट भूगर्भात्मक पर्यावरण सम्बन्धी संस्कृति की अस्मिता स्थापित करते हैं। इस क्षेत्र का प्रमुख नगर प्राचीन 'गोपालखेटक' या 'गोपालिकेर' (ग्वालियर) था। ऐतिहासिक दृष्टि से ग्वालियर का पहाड़ी भाग 'गोपाद्रि' सम्पूर्ण गोपाचल क्षेत्र की राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्रबिन्दु हूण राजा मिहिरकुल (525 ई.) के समय में बन गया। उसके पूर्व यहाँ का इतिहास अज्ञात है। खड्गराय द्वारा रचित लोक परम्परा का पोषक एवं संस्थापक "गोपाचल आख्यान" नामक ग्रन्थ के अनुसार सूरजसेन नामक राजा ने अपना वंश यहाँ स्थापित किया। इस आख्यान में मिथकीय राजनायकों के आनुवांशिक क्रम का विवरण है किन्तु यह ग्रंथ एक लोकग्रंथ है जिसके विवरणों की ऐतिहासिकता ठोस प्रमाण के अभाव में संदिग्ध है। इनमें गोपाचल के अंतवर्ती क्षेत्र के विवरण नहीं हैं, जो पूर्व में महाभारत के अनुसार उस काल में 'सेक', 'अपरसेक', 'पुलिंद' जैसी अराजक



जनजातियों द्वारा नियंत्रित था। इनका उल्लेख सहदेव के सामरिक अभियान के संदर्भ में है। वस्तुतः इन्हीं जांगल जनजातियों ने गोपाचल के सांस्कृतिक इतिहास को जन्म दिया। परन्तु यह इतिहास गंगा घाटी के सुस्पष्ट राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पूर्णरूपेण भिन्न तथा 'अराजक' है क्योंकि इसमें गंगा घाटी जैसी आर्थिक या सामाजिक संरचना के बजाय इस प्रसंग में वन के संसाधनों एवं विशिष्टताओं की झलक है। इस दुर्गम, वन आच्छादित व्यवस्था में आंचलिकता का वर्चस्व है। शिवपुरी जिले के एक शैलाश्रय में रंगों से लिखे एक अभिलेख में 'भदकन' नामक मातृमूलकजन का उल्लो है। गोपाचल के भूभागों में जनजातीय प्रभुत्व एवं उनकी पृथक प्रकार की वन्य जीवन शैली का प्रभाव प्रकट होता है।

गोपाचल का भूभागीय अंचल गहन वनों से परिपूर्ण पर्वतीय उपत्यकाओं और बीहड़ों के साथ चम्बल केन्द्रित नदियों के जाल और प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण दशार्ण, चेदि, शूरसेन, मत्स्य आदि महाजनपदों से भिन्न बना रहा। अपने आप में इस प्रदेश के विशिष्ट आकर्षण रहे हैं, विशेषतः सामरिक परिस्थितियों में। प्राचीन काल में गोपाचल की सीमाएं पूर्व में वेत्रवती (बेतवा), पश्चिम में चम्बल, उत्तर में कालिन्दी (यमुना) और दक्षिण में मालवा के पठार से घिरी थीं। इस क्षेत्र में पुरातात्विक सर्वेक्षणों से और उत्खननों से यहाँ की प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के कतिपय विकासमान चरणों की जानकारी उपलब्ध है। इसमें निम्न पुरापाषाण काल (Lower Palaeolithic) तथा मध्य पाषाण काल (Mesolithic) की सामग्री तो उपलब्ध है, परन्तु ताम्रशम युग की कोई सूचना नहीं है। कुटवार, गिलौलीखेड़ा (जि. मुरैना), गुप्तेश्वर, जड़ेरूआ और सूरों (जि. ग्वालियर), और तुम्भैन (जि. गुना) से लौहयुगीन संस्कृतियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इन जानकारीयों के आधार पर इस क्षेत्र का प्रागैतिहासिक एवं प्रारम्भिक ऐतिहासिक विवरण अंशतः सम्भव है।

गोपाचल क्षेत्र का प्रारम्भिक इतिहास अनेक उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण एवं अस्पष्ट है। दतिया जिले में गुर्जरा नामक स्थान पर अशोक का एक लघु शिलालेख इस क्षेत्र में मौर्यों का आधिपत्य सिद्ध करता है। तदुपरांत मिहिरकुल के सेनानायकों द्वारा गोपाद्रि पर निर्मित एक सूर्य मंदिर की सूचना उनके एक अभिलेख में है। उज्जैन के गुर्जर प्रतिहार राजा वत्सराज के समय में गोपाचल क्षेत्र में मधुमती (महुआ, जि. शिवपुरी) नामक स्थान पर घूर्जटी-शिव मंदिर का निर्माण हुआ। प्रकट है कि गोपाचल के भूभाग में राज्य व्यवस्था का प्रयास

कन्नौज के वर्मनों और तदुपरांत गुर्जर प्रतिहारों तथा मालवा की स्थानीय चालुक्य शाखा के साथ प्रारम्भ हुआ। तदुपरांत इस परम्परा का ग्वालियर, नरवर और दूबकुंड के कच्छपघातों, मालवा के परवर्ती प्रतिहारों तथा याज्वपालों (जज्जपेल्ल) द्वारा अनुसरण हुआ। ये सभी राजवंश आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के विस्तृत इतिहास के अंग हैं तथापि उनके विवरण किसी सुदृढ़, सशक्त, साम्राज्यवादी शासकीय परम्परा का चित्रण नहीं करते। यहाँ तक कि गुर्जर प्रतिहार और चंदेल राजवंश जिनकी यहाँ प्रतिष्ठा थी, विशेष महत्वपूर्ण ढंग से इस क्षेत्र में नहीं उभरते। उनका वर्चस्व केवल नगरों तक सीमित रहा होगा क्योंकि वन्य क्षेत्र उनके लिए दुर्गम थे जहाँ 'कोटपालों' को उन्होंने स्थापित करने का प्रयास किया।

एक सुदृढ़ राजव्यवस्था के अभाव में अन्य संस्थाएं, विशेषकर शैव सिद्धान्त मत के तपस्वी-आचार्यों का इस क्षेत्र में वर्चस्व हो जाना स्वाभाविक था। इन्होंने अपनी मान्यता, लोकशक्ति एवं क्षेत्रीय प्रभुत्व द्वारा राजाओं को भी अपने आधिपत्य में कर लिया था। इस क्षेत्र में अन्य भूभागों जैसी रूढ़िगत सामाजिक संरचना किञ्चित् विलम्ब से हुई। तेरहवीं शताब्दी तक वर्ण-जाति का स्थान यहाँ गौण था। क्षत्रिय शासकों का यहाँ अभाव था। सातवीं शताब्दी में युवान श्वांग ने 'पारियात्र' क्षेत्र, जिसमें उज्जैन से ग्वालियर तक का भाग सम्मिलित रहा होगा—में वैश्यों के राजत्व का उल्लेख किया है। यह विवरण गोपाचल क्षेत्र पर सहज ही सिद्ध होता है। यथा, नवीं शताब्दी के एक अभिलेख से इसकी पुष्टि होती है। इस अभिलेख में ग्वालियर के प्रशासन का श्रेय श्रेष्ठियों, सार्थवाहों, श्रेणी-मुख्यों के सह संबंध वाले संगठन को दिया गया है। इसमें भी श्रेष्ठी एवं सार्थवाहों का वर्चस्व था। लगभग ग्यारहवीं सदी तक ब्राह्मणों के सशक्त अस्तित्व का यहाँ कोई प्रमाण नहीं मिलता। नवीं शताब्दी में एक क्षत्रिय एक 'खेतिहार' के रूप में स्थापित था। राजनीतिक एवं सामाजिक वर्गीकरण की इन सूचनाओं के आधार पर गोपाचल क्षेत्र में एक भिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्था एवं जनजातीय संगठनों का चित्र उभरता है जिसमें आठवीं-नवीं शताब्दी तक केवल गोपाद्रि और पद्मावती, दो ही नगर थे। गोपाद्रि (ग्वालियर) गुर्जर प्रतिहारों के वायिल्लभट्ट, अल्ल, दुर्भट, उदभट, गोभट जैसे "भट" सामंतों से; नगर, व्यापारी वर्ग के संगठनों से; एवं विशाल अरण्य क्षेत्र शैव आचार्यों के अन्तर्गत प्रबंधित था। आंचलिक क्षेत्रों में "वीर" जनजातियों का वर्चस्व था। जिन पर राजशक्ति का प्रभाव नहीं के बराबर था परन्तु शैव आचार्य अपनी त्यागमय, तपस्वी जीवन शैली के द्वारा उन पर

नियंत्रण बनाए रहने में समर्थ थे। इस नियंत्रण में शैव आचार्यों के मठों का संगठन उनका सहायक बना रहा। इन सभी सूचनाओं के आधार पर गोपाचल क्षेत्र का एक सर्वथा भिन्न इतिहास स्पष्ट होता है। जिसमें सातवीं से दसवीं शती तक शैव सिद्धान्त मत और उसके मठों का सर्वोपरि स्थान परिलक्षित होता है। यह निष्कर्ष सम्भव है कि गुर्जर प्रतिहार सामंत (कुलीन वर्ग), व्यापारी वर्ग एवं शैव सिद्धान्त मत के संस्थागत तपस्वी-आचार्यों का तत्कालीन राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था में, सुनिश्चित राजव्यवस्था की दुर्बलता के कारण, अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण स्थान रहा। उक्त विभिन्न शक्तियों ने इस सम्पूर्ण क्षेत्र को इस तरह बाँट लिया कि सामंतों के हाथ में राजनीति, व्यापारी वर्ग के हाथ में नगर व्यवस्था एवं व्यापारिक गतिविधियाँ सुनिश्चित हुईं। शैव मत के तपस्वी-आचार्यों का नियंत्रण वन-प्रांतरों की उद्दण्ड एवं अराजक जनजातियों, 'आटविकों' या 'भटों' पर हुआ जिससे कि वे राजा, सामंत एवं श्रेष्ठी-सार्थवाहों के आवागमन की सुरक्षा में सहायक हुए। गोपाचल की 'आटविक' जनजातियाँ किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं थीं। किन्तु शैव सिद्धान्त के तपस्वी आचार्यों के विरुद्ध नहीं रही होंगी। इन परिस्थितियों में गोपाचल क्षेत्र में कदम्बगुहाधिवासी, शंखमठिकाधिपति, तेरम्बिपाल, आमर्दक-तीर्थनाथ, पुरंदर जैसे शैव सिद्धान्ती आचार्यों के संरक्षण में कला सम्बन्धी क्रियाकलाप का प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। इन तपस्वी आचार्यों के विकासमान विरुद्धों, जैसे 'पति' 'पाल', 'नाथ', से उनका वैभव, ऐश्वर्य एवं महत्ता स्वतः स्पष्ट होती है। अभिलेखों से इनकी शक्ति एवं सामर्थ्य की संपुष्टि होती है।

अभिलेखों में शासकों और समाज दोनों के सहयोग से गोपाचल क्षेत्र में यत्र-तत्र मंदिर बनवाये जाने का उल्लेख है। गुप्त युग में छह (6) ब्राह्मण बंधुओं ने तुम्बवन (तुम्भैन, जि. गुना) में एक मंदिर बनवाया। मिहिरकुल के सेनानायकों ने गोपाद्रि पर सूर्य मंदिर का निर्माण किया। कन्नौज से आये भ्रमणार्थियों (?) ने वत्सराज के शासन काल में महुआ (प्राचीन मधुमती) में घूर्जटी शिव का मंदिर बनवाया। ग्वालियर से प्राप्त नवीं शताब्दी के लेख में विशाख, नवदुर्गा और विष्णु नारकद्विषः के मंदिरों के उल्लेख है। ये सभी मंदिर अब अवशिष्ट नहीं हैं। किन्तु ग्वालियर में प्रतिहारों के 'कोटपाल' एवं 'मर्यादाधुर्य' अल्ल द्वारा निर्मित, विष्णु को समर्पित 'वायिल्लभट्ट स्वामी' (आज का चतुर्भुज) मंदिर आज भी विद्यमान है। जैसा पूर्वोक्तिखित है, मंदिरों के अतिरिक्त शैव सिद्धान्त के तपस्वी आचार्यों के विशाल मठ भी सातवीं से दसवीं शताब्दी से बने। ये मठ शक्ति एवं धन के महत्वपूर्ण केन्द्र बने। शैव दर्शन एवं

स्वाध्याय के स्रोत बने और मठों के विशाल परिसर में या बाह्य भागों में इनके प्रयास एवं कर्मठ सहयोग द्वारा मंदिर बने। मंदिरों के साथ ही सरोवर, उपवन एवं जनोपयोगी निर्माण भी हुए।

इन तथ्यों से गोपाचल क्षेत्र का किञ्चित सुव्यवस्थाहीन एकाकीपन तो स्पष्ट होता है परन्तु यहाँ के मंदिर (सातवीं से दसवीं शताब्दी) एक विकासमान उत्कृष्ट वास्तुकला एवं मूर्ति समायोजन का परिचय देते हैं। इनका मूल्यांकन इनकी गुप्तकालीन, परिमार्जित, 'क्लासिकल', कला शैली तथा उनके विकास के महत्वपूर्ण पक्षों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है, जो निम्नवत है—

गुप्तकाल में गोपाचल से उनके सम्बन्धों की सूचना अज्ञात है। किन्तु कला के परिदृश्य में गुप्त परम्परा का एक उदाहरण पवाया (प्राचीन पद्मावती) से प्राप्त तोरण (पुरातत्व संग्रहालय, ग्वालियर) है। इसमें वामन एवं त्रिविक्रम की कथा में बलि का उत्सर्ग सविस्तार दिखाया गया है। उल्लासपूर्ण सामूहिक नृत्य, देवताओं और असुरों द्वारा सागर मंथन, सूर्य, चन्द्र एवं कार्तिकेय की मूर्तियाँ भी इस तोरण के प्रस्तर पर दिखाये गये हैं। इन देवताओं तथा उनके मिथकों के पौराणिक अभिप्राय एवं उद्गम, दोनों ही स्पष्ट हैं, जिन्हें सहज ढंग से प्रदर्शित किया गया है। पवाया (पुरातत्व संग्रहालय, ग्वालियर) से प्राप्त बलराम और त्रिविक्रम मूर्तियों में गुप्तकालीन क्लासिकल परम्परा का निर्वाह कुशलतापूर्वक हुआ है। इसी प्रकार तुम्भैन से प्राप्त कौमारी, लकुलीश, अम्बिका और एक—शिर कार्तिकेय (हरी सिंह गौर संग्रहालय, विश्वविद्यालय, सागर) की मूर्तियों में इसी शैली की पुनरावृत्ति हुई है।

पाँचवी शताब्दी की ये कलाकृतियाँ गुप्तकालीन कला के परिवर्तित आंचलित रूप की परिचायक हैं। प्रायः इनके बाद की गुप्तोत्तरयुगीन प्रतिमाओं में लुप्त प्राय प्राचीन तत्व परिलक्षित होते हैं, जैसे, तेराही (ग्वालियर पुरातत्व संग्रहालय) की कुबेर प्रतिमा, जिसमें कुबेर को एक पात्र और द्राक्षागुच्छ को हाथ में लिए दिखाया गया है। इस मूर्ति के लक्षणों में विष्णुधर्मोत्तर पुराण के निर्देश का अनुसरण हुआ है। तथापि यहाँ ऐसी भी अनेक मूर्तियाँ हैं जिनमें ऐसी पुराण-प्रेरित प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, कोटा (जि. शिवपुरी) से प्राप्त मातृका मूर्तियाँ, वाराही, वैष्णवी, चामुण्डा, कौमारी, माहेश्वरी और ऐन्द्री (ग्वालियर पुरातत्व संग्रहालय) आदि क्लासिकल गुप्त परम्परा और मध्ययुग की मूर्तियों के बीच गोपाद्रि क्षेत्र में एक सेतु है। मालवा के साथ भी इनके सम्बन्ध के छिटपुट प्रमाण हैं। सागर मंथन के दृश्य विदिशा और पवाया दोनों



ही स्थानों पर हैं। इस क्रम की उदयगिरि (विदिशा) की चक्रपुरुष प्रतिमा है जो वैष्णव परम्परा से सम्बन्धित है। गोपाचल में प्रायः इन प्राचीन तत्त्वों की पुनरावृत्ति काफी हुई है। पवाया से प्राप्त स्तम्भ शीर्ष (पुरातत्व संग्रहालय, ग्वालियर) इस प्रकार के उदाहरणों में से एक है। इससे यह विदित होता है कि मौर्यों के अन्त के बाद, जो मूर्तिकला हर जगह स्वीकृत हो चुकी थी उसके विरुद्ध पवाया 'क्लासिकल' युग में भी स्वतंत्र रूप में प्राचीन मौर्ययुगीन मूल्यों पर टिका रहा। यह भी सत्य है कि जड़ेरुआ और सूरों की कतिपय मृण्मूर्तियों के अतिरिक्त ऐसी प्रतिभाएं इस क्षेत्र से अप्राप्य हैं। इस तथ्य द्वारा भी गोपाचल क्षेत्र के शेष कला जगत से अलग-थलग, एकाकी होने के विचार को बल मिलता है।

यह एकाकीपन महुआ के शिव मंदिर की स्थापना से टूटता सा लगता है। बाद के अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि गुप्तकाल के बाद यह स्थान शैव आचार्यों के एक गढ़ जैसा विकसित हुआ। इन आचार्यों ने अपने मठों में या उनके आस-पास ही मंदिरों का निर्माण किया। इस भाँति अपने सिद्ध एवं समृद्ध संरक्षण द्वारा वे गुप्तों के बाद के युग में गोपाचल की कला परम्परा के अधिष्ठाता बने। इनके अन्तर्गत कलात्मक गतिविधियों का आरम्भ कदवाहा के निकट महुआ में 675 ई. में कदम्बगुहाधिवासी के पदार्पण से हुआ। ये दोनों स्थल पास-पास हैं। अतः यह सम्भव है कि कदम्बगुहाधिवासी कदवाहा में रहते हुए महुआ (मधुमती) तक प्रभावी थे जहाँ उनका तपस्थान रहा होगा। यहीं धूर्जटी मंदिर का निर्माण हुआ। जिसकी तिथि कदम्बगुहाधिवासी के समसामयिक है। वस्तुतः कदवाहा (कदम्बगुहा) पर भी उनके नाम की स्पष्ट छाप है। ख्यातिनाभा धूर्जटी मंदिर का एक अन्यतम माहात्म्य था क्योंकि इनका उल्लेख बार-बार हुआ है। यह मंदिर रत्नोद के अभिलेख में और फिर विन्ध्य क्षेत्र से प्राप्त एक अभिलेख में अनन्यतः समादृत है।

शैव सिद्धान्त के तपस्वी आचार्यों के अभिलेखों में स्पष्ट वक्तव्य है कि लगभग प्रत्येक आचार्य ने अपने स्थान पर मठ एवं मंदिरों का निर्माण किया। कदम्बगुहाधिवासी तथा धूर्जटी मंदिर की समकालीनता इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि इस आचार्य ने मठ और मंदिर स्थापित करके कदवाहा तथा महुआ में शैव सिद्धान्त परम्परा का उद्घाटन किया और फिर गोपाचल में मंदिर निर्माण की गतिविधियों का विकास प्रारम्भ हो गया। नवीं शताब्दी तक महुआ मंदिरों से परिपूर्ण रहा। यहाँ बने तीन मंदिर अभी भी, क्षत-विक्षत किन्तु विद्यमान हैं।

बाद में भी कई शताब्दियों तक इस पुण्य क्षेत्र में आत्मदाह का चलन रहा। सम्भवतः यहाँ प्राणोत्सर्ग करने की कोई महिमा रही होगी। किन्तु यह स्पष्ट है कि ऐश्वर्य की पराकाष्ठा तक पहुँचने की मधुमती की उत्कर्ष यात्रा का शुभारंभ 675 ई में धूर्जटी मंदिर के निर्माण से हुआ।

अपने प्रारम्भिक रूप में प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिर विविध स्थलों पर बड़े या छोटे समूहों में केन्द्रित रहे। इनमें बटेसर (जि. मुरैना) जो अब खण्डहर ही बचा है, अपने वैविध्य, शैलीगत लक्षणों, संख्या और विकासोन्मुख परम्परा के कारण विशेष महत्वपूर्ण है। बटेसर में विद्यमान छोटे-छोटे तरुणालयों से विदित होता है कि जैसे यह कलाकारों की कार्यस्थली या निवासस्थान था जहाँ मंदिर निर्माण सम्बन्धी प्रयोग सैद्धान्तिक आचार्यों के संरक्षण में हुए। यहाँ जो भी प्रयोग हुए उनके आधार पर स्थान विशेष में मंदिरों का निर्माण करने हेतु कलाकारों का चयन-अभियोजन किया जाता होगा। दूसरी ओर नरेसर (प्राचीन नलेश्वर सातवीं-आठवीं शती) एक सुविकसित किन्तु एकांत मंदिर नगरी था जिसमें शैव आचार्य अपनी एकांत तपस्या एवं धर्मचर्या करते होंगे। अपने निर्जन, कठोर प्राकृतिक वातावरण में पर्वतीय उपत्यकाओं के बीच का यह क्षेत्र तपोवन का सटीक उदाहरण है। इसकी जल व्यवस्था हेतु उपत्यका पर बना सरोवर एवं निकटस्थ एक विशाल झील वर्षा जल के संचय के उपयुक्त कृत्रिम साधन थे जिनके निर्माण का श्रेय भी उन तपस्वी आचार्यों को है।

प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों के विशिष्ट विवरण हम आगे चलकर देंगे। अभी इस शैली के मंदिर निर्माण सम्बन्धी लक्षणों का सामान्य एवं संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे। इस शैली के मंदिर बहुधा स्थानीय पहाड़ी चट्टानों के खण्डों से निर्मित है। इनमें खेरहाट और डांग (जि. भिंड) के मंदिरों में ईंटों का उपयोग किया गया है। ग्वालियर के चतुर्भुज मंदिर का कुछ भाग संरचनात्मक है; शेष भाग शैलोत्कीर्ण है। इसके अभिलेख के अनुसार इस मंदिर में विष्णु के "नाम" को शिला पर "लिख" दिया गया जिस उक्ति से इसकी निर्माण प्रक्रिया की पुष्टि होती है।

प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिर एक विशिष्ट तालच्छंद योजनानुसार बनाए गये हैं जिनमें चौकोर, अष्टभद्र, आयताकार निम्न भाग पर उर्ध्वोन्मुख 'लतिन' या आयताकार 'वलभी' शिखर सुशोभित हैं। गर्भगृह 'त्रिरथ' प्रकार के हैं जिनके सम्मुख "प्राग्ग्रीवा" के रूप में 'मण्डप' हैं। सुविकसित मंदिरों में गर्भगृह और मण्डप के मध्य 'कपिली' का नियोजन है। कपिली के देवकोष्ठकों

में देवमूर्तियाँ हैं जो विमान के बाह्य “भद्र” भाग पर बनी देवकोष्ठ मूर्तियों के समानान्तर तल पर स्थापित हैं। मंदिरों का शिखर मध्यलता द्वारा भद्र और कर्ण के भागों में विभाजित है।

उत्सेध विन्यास के अन्य लक्षणों में उल्लेखनीय है मंदिरों के चार प्रमुख अंग— वेदीबंध, जंघा, वरंडिका और शिखर। इन भागों पर आवश्यकतानुसार ज्यामितीय, नैसर्गिक अंकन है। वेदीबंध के लक्षणों में खुर, कुम्भ, कपोत हैं, या कभी—कभी इनमें ‘नीत्र पट्टिका’ भी विद्यमान है। कपोत वेदीबंध को आच्छादित करते हैं, और सुसज्जित तुलापीठ का भी इनमें उपयोग है जिससे स्पष्ट है कि इस पद्धति का उद्गम काष्ठ के भवनों की योजना के अनुसरण में हुआ होगा।

इन मंदिरों में ‘वेदीबंध’ एवं ‘पीठ’ के ऊपर ‘कपोत’ से ऊपरी भाग में ‘जंघा’ भाग विद्यमान है जो मध्य में ‘भद्र’ भाग पर बने ‘शाखाओं’ द्वारा आवेष्टित देवकोष्ठकों में स्थापित देवमूर्तियों से सुसज्जित है। ये देवकोष्ठक ‘उद्गमों’ के द्वारा यथास्थान आच्छादित हैं। ‘जंघा’ की उठान का अंत ‘वरंडिका’ के संधि स्थल पर है। इन दोनों भागों पर बहुधा अलंकरण है। इनमें झालरों और घंटियों का प्रभूत प्रयोग है। ‘वरंडिका’ के साथ भी ‘तुलापीठों’ का अंकन है। ‘वरंडिका’ पर ऊर्ध्वोन्मुख ‘लतिन’ शिखर है जिसका ‘भद्र’ भाग ‘लता’ से सुसज्जित है। ‘भद्र’ के पार्श्वों में ‘कर्ण’ हैं जो ‘आमलक’ द्वारा भूमियों को दर्शाते हुए हैं और बाल पंजरों से सुशोभित हैं। शिखर में भद्र और कर्ण के बीच ‘सलिलांतर’ के पूर्वरूप की कल्पना समाविष्ट है। इस सम्पूर्ण योजना से शिखर में कटाव और उभार का बिम्ब निरन्तर है। शिखर का ऊपरी घुमाव सन्तुलित ओर समाकार है जो सम्पूर्ण निर्माण को शोभायमान करता है। शिखर पर ही सामने की ओर ‘शुकनासिका’ पर देवमूर्ति एक ‘गवाक्ष’ में आसीन है। शिखर की ‘मूर्ध्नि’ पर ‘पताका’ तथा घट सहित आमलसारक प्रतिष्ठित है। मंदिरों की ऊँचाई 25 से 40 फीट है। इनमें ग्वालियर का तेली का मंदिर लगभग 90 फीट का है और सबसे ऊँचा है। आठ से दस फीट ऊँचे ‘तरुणालय’ आकृति और बनावट में इन मंदिरों के प्रतिरूप हैं। मंदिरों के द्वार रचना की भी इनमें एक अनूठी पद्धति है जिनमें ‘शिरदल’ पर ‘ललाट बिम्ब’ के रूप में गरुड़ हाथों में नागों की पूँछ पकड़े हुए सुशोभित हैं और नागों की कुण्डलियाँ द्वार की शाखाएँ बनाती हुई नीचे की ओर जाती हैं। द्वार अनेक ‘शाखाओं’ का है जिसमें ‘रूपशाखा’ पर प्रायः मिथुनों, भूतों और साधुओं आदि की आकृतियाँ हैं।

प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों के उद्गम और विकास के विवरण अनेक विद्वानों ने विविध क्रम से दिये हैं। हमने उन्हें क्रमानुसार निम्नवत् संयोजित किया है।

धूर्जटी शिव मंदिर	महुआ	7वीं शती (लगभग 650-675 ई.)
मरेबड़े (शिव ?) मंदिर	खेरहाट	8वीं सदी
शिव मंदिर (5 प्रमुख मंदिर)	नरेसर	8वीं सदी पूर्वार्ध
रामेश्वर महादेव मंदिर	अमरोल	8वीं सदी का मध्य
शिव मंदिर	डांग	8वीं सदी, उत्तरार्ध
दाने बाबा का मंदिर	अमरोल	8वीं सदी, उत्तरार्ध
भूतेश्वर महादेव तथा मंडपिकाओं सहित लगभग 30 मंदिर	बटेसर	8वीं सदी, उत्तरार्ध
शिव मंदिर (संख्या २)	महुआ	लगभग 800 ई.
गर्गज महादेव (शिव मंदिर)	इन्दोर	लगभग 800 ई.
चामुण्डा मंदिर	महुआ	लगभग 850 ई.
विशाख मंदिर (अप्राप्य)	ग्वालियर	नवीं सदी (पूर्वार्ध)
शैव मंदिर	केलधार	नवीं सदी, पूर्वार्ध
तेली का मंदिर	ग्वालियर	नवीं सदी
वायिल्लमट्टस्वामी (चतुर्भुज)	ग्वालियर	875 ई.
शिव मंदिर	तेराही	लगभग 875 ई.
नवदुर्गा मंदिर (अप्राप्य ?)	ग्वालियर	876 ई.
विष्णु नरकद्विषः मंदिर (अप्राप्य)	ग्वालियर	875-885 ई.
सूर्य मंदिर	सेसई	दसवीं सदी, पूर्वार्ध
लघु मंदिर	सेसई	दसवीं सदी, पूर्वार्ध

प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों के निर्माण की यह व्याख्या अन्तिम रूप से तिथिपरक, ऐतिहासिक क्रम में किञ्चित विवादित हो किन्तु इनके निर्माण की शताब्दियों के विषय में असंदिग्ध है। इन मंदिरों के अतिरिक्त तेराही (मोहजमाता) सकर्सा, थुबोन, कदवाहा में ग्यारहवीं शताब्दी में तथा अमलेड़ा, भरौली और नरेसर में बारहवीं सदी में मंदिरों का निर्माण हुआ। विविध स्थानों पर तेरहवीं शताब्दी में भी इस प्रकार की गतिविधियाँ हुई पर वे सभी 'सिद्धान्त' से अनिवार्य रूप से नहीं जुड़ी। दसवीं शताब्दी से लेकर आगे तक की मंदिर निर्माण की इस प्रक्रिया का अध्ययन अभी तक उपेक्षित रहा है। इन पर स्वतंत्र अध्ययन की अभी भी आवश्यकता है।

नवदुर्गा मंदिर हमने उपर्युक्त तालिका में अप्राप्य लिखा है। परन्तु उसका समीकरण हमने ग्वालियर के तेली का मंदिर से किया है। यह पहचान हमने अभिलेखीय आधार पर स्थापित की है जिसका विवरण आगे किया जायेगा। प्रत्युत हम प्रारम्भिक गोपाद्रि मंदिरों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

इस तथ्य पर बल देना आवश्यक है कि गोपाद्रि क्षेत्र में मंदिर निर्माण सम्बन्धी गतिविधियों में शैव सिद्धान्त सम्प्रदाय का वर्चस्व रहा। अतएव मंदिर मुख्यतः मठों की सीमा के अन्दर अथवा उनके आस-पास ही बने। महुआ, अमरोल, नरेसर, बटेसर, केलधार और ग्वालियर के विषय में यह तथ्य स्वतः सिद्ध है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ग्वालियर में वर्तमान समय में जो क्षेत्र 'गोरखी' नाम से जाना जाता है, वहाँ शैव आचार्यों का गोलकी मठ रहा होगा। अमरोल आमर्दकतीर्थनाथ (रुद्रशम्भु) नामक प्रसिद्ध आचार्य की धर्मपीठ रहा होगा। नरेसर और बटेसर इन साधुओं के वे केन्द्र स्थल रहे होंगे जहाँ रहकर वे समाज से सम्पर्क भी रखते होंगे। महुआ के भग्नावशेष यहाँ पर कभी विद्यमान एक मठ की ओर संकेत करते हैं। ये भग्नावशेष स्थानीय महुवर नदी से चलकर ग्राम में प्रवेश करते ही दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार के भग्नावशेष नाले के दूसरे तट पर केलधार के टीले पर मंदिर के दूसरी ओर प्राप्य है। तेराही में भी मठ से जुड़ा हुआ मंदिर उस क्षेत्र को पूर्णता प्रदान करता है। इस प्रकार मंदिरों पर सिद्धान्त मत का संरक्षण बार-बार प्रमाणित होता है।

शैव सिद्धांती आचार्यों के केन्द्र महुआ में स्थित धूर्जटी शिव मंदिर, गोपाद्रि शैली के प्रारम्भिक रूप का सजीव उदाहरण है। अभिलेख में "मंडपिका" नाम से सम्बोधित इस मंदिर में समतल छत है एवं यह एक ऊँची



पीठ पर स्थित है। सीढ़ियों से चढ़कर, मण्डप को पार करके इसके गर्भगृह का प्रवेश द्वार है। इसके उत्प्रेषण विन्यास में वेदीबंध, जो खुर, कुम्भ और कपोत से बना है, इसके प्रारम्भिक रूप को स्पष्ट करता है। इनमें कपोत भाग पर तुलापीठ है। वेदीबंध के ऊपर जंघा पर तीन दिशाओं में क्रमशः गणेश, महिषमर्दिनी और वराह की मूर्तियाँ सुसज्जित हैं। आगे चलकर इस त्रयी का स्थान उमा, गणेश और कार्तिकेय ने ले लिया। उक्त मन्दिर पर गणेश, महिषमर्दिनी और वराह की मूर्तियाँ बड़ी सुन्दरता से गढ़ी हुई हैं। गर्भगृह की जंघा पर हाथियों की सुन्दर आकृति फूल-पत्तियों तथा लता-वल्लरियों के साथ सजायी गई है। वरंडिका जंघा पर आसीन है और इसके ऊपर समतल छत है। मंदिर का द्वार एक 'नागर' और एक 'वलभी' शिखर की उन दो पूर्व कल्पनाओं को प्रतिबिम्बित करता है जो एक शताब्दी बाद गोपाचल के मंदिरों में साकार हुईं। मंदिर के शिरदल पर वलभी प्रकार का शिखर गोपाद्रि क्षेत्र में इस प्रकार का प्रथम उदाहरण है। 'वलभी' शिखर तदुपरांत नरेसर के एक देवी मंदिर पर निर्मित हुआ। आगे चलकर ग्वालियर के नवदुर्गा (तेली का मंदिर) मंदिर पर इसका सुविकसित रूप प्रकट हुआ। महुआ के मंदिर के द्वार पर स्थित सिरदल पर अभिलेख है जिसमें उस धूर्जटी शिव को समर्पित 'शिला मंडपिका' कहा गया है। 'मंडपिका' शब्द मध्य भारत में गुप्त युग के परवर्ती काल में शिखरहीन समतल छत वाले मंदिरों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो शिखर प्रकार के मंदिरों के साथ-साथ बनाये गये। प्राचीन युग के काष्ठ निर्मित वास्तु से इन मंडपिकाओं का गहन सम्बन्ध भी व्यक्त होता है।

महुआ के बाद खेरहाट में एक ईंटों का मंदिर बना और उसके बाद नरेसर की तपोभूमि मंदिरों के समूहों के साथ विकसित हुई। अनेक सदियों तक नरेसर महत्वपूर्ण रहा। अभिलेखों के अनुसार उस पर सातवीं शताब्दी में वर्मनों का और फिर तेरहवीं शताब्दी में याज्वपालों का आधिपत्य रहा। एक मंदिर पर अभिलिखित "कर्कोटकेश्वर" नाम कश्मीर के कर्कोटकों की याद दिलाता है जिन्होंने कन्नौज से वर्मनों को विस्थापित कर दिया था। नरेसर में कच्छपघातों के समय का एक मंदिर और तेरहवीं शती की अनेक 'मंडपिकाएं' भी हैं जिनमें मातृका मूर्तियाँ थीं। इनका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं।

नरेसर के मंदिरों में कम से कम आठ (8) (संख्या 17, 18, 19, 20, 22, 23, इत्यादि, कर्कोटकेश्वर सहित) तथा ऐसे ही अन्य मंदिर प्रारम्भिक आठवीं शताब्दी के हैं। इन सभी में वेदीबंध, जंघा, वरंडिका और 'लतिन' ढंग

के शिखर जैसे सामान्य लक्षणों का समावेश है। अपवाद स्वरूप केवल एक देवी मंदिर है जिसका 'वलभी' प्रकार का शिखर है। इसके तालच्छंद की समायोजना में 'प्राग्ग्रीवा' सहित गर्भगृह तथा इनके बीच की कपिली, इनके लगभग आवश्यक अंग हैं। 'प्राग्ग्रीवा' का द्वार इन मंदिरों की एक निजी विशेषता है। कुछ अपवादों को छोड़कर शेष सभी मंदिरों में गणेश, कार्तिकेय और उमा (पंचाग्नितप रत) की सुगढ़ मूर्तियाँ जंघा के देवकोष्ठकों में सुसज्जित हैं। लकुलीश मंदिरों के सम्मुख भाग पर शुकनासिका के गवाक्ष में आसीन हैं। 'वलभी' शिखर वाले देवी मंदिर में मूर्ति समायोजन एवं वास्तु के लक्षण कुछ भिन्न हैं।

यह देवी मंदिर त्रिरथ योजना वाले अन्य मंदिरों से भिन्न, आयताकार है। इसमें उत्तर और दक्षिण की छोटी भित्ति पर जंघा भाग पर क्रमशः गणेश और पार्वती की मूर्तियाँ हैं। पूर्व की भित्ति की जंघा पर सूर्य एवं विष्णु की मूर्तियाँ हैं। मंदिर का मुख्य द्वार पश्चिम की ओर है। शिखर वरंडिका के ऊपर दो तलों में बना है। उत्तर एवं दक्षिण दिशा की अपेक्षाकृत छोटी भित्तियों में नीचे की ओर गवाक्ष है। इसकी लम्बी भित्तियों पर नीचे की ओर उद्गम है तथा ऊपर की ओर झुकावदार 'वलभी' शिखर है। यह शिखर रूप ग्वालियर के नवदुर्गा मंदिर में पुनः प्रयोग में आया। यह देवी मंदिर विष्णु और सूर्य की मूर्तियों के कारण भी अनूठा है क्योंकि अन्य स्थानों पर गोपाद्वि मूर्ति परम्परा की त्रयी उमा, गणेश और कार्तिकेय तक ही सीमित है, जबकि यहाँ शैवेतर मूर्तियों का भी समावेश है। नरेसर के मंदिर (17) में अन्य अपवाद भी है, यथा 'भद्र' और 'जंघा' पर लकुलीश और कुबेर की मूर्तियाँ हैं। डांग का मंदिर भी ऐसे अपवाद से लक्षित है। यहाँ त्रयी के अतिरिक्त हरिहर, दिग्पाल और कृष्ण लीला के अंकन हैं। कृष्ण लीला में ऊखल बंध और कालियदमन के दृश्य प्रदर्शित हैं।

अमरोल में प्रारम्भिक गोपाद्वि शैली के मंदिर हैं। अमरोल आम्रवन में स्थित मठ के कारण तीर्थ बना एवं इसके तपस्वी आचार्य छतीसगढ़, गुजरात और महाराष्ट्र में संस्थापित हुए जिस कारण भी यह अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। अमरोल स्थित तीन मंदिरों में दो यद्यपि भग्नावशेष मात्र हैं परन्तु अध्ययन की दृष्टि से ये महत्वपूर्ण हैं। रामेश्वर महादेव मंदिर कपिली पर बनी हुई गणों, दिग्पालों (यम, अग्नि और ईषान) की मूर्तियों के कारण उल्लेखनीय है। स्थानीय दाने बाबा मंदिर में दिग्पालों की संख्या पूरी है, तथा इसमें जंघा पर

वायु और ईशान मूर्तियाँ उत्तर दिशा में, पूर्व दिशा में इन्द्र और सूर्य तथा दक्षिण दिशा में अग्नि और यम की मूर्तियाँ विराजित हैं।

इसके पश्चात् बटेसर अपने विशाल भूतेश्वर मंदिर एवं तरुणालयों के विविध निर्माणों के कारण गोपाद्रि शैली के उदाहरणों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह पूरा परिसर गोपाद्रि शैली के स-शिखर या शिखरहीन छत वाली मंडपिकाओं से भरा पड़ा है जिनमें विविध विशिष्टताएं परिलक्षित होती हैं। ये मंदिर एक पंक्ति में विभिन्न ऊँचाइयों पर अलग-अलग तलों से स्थित हैं। एक टीले पर एक वेदीबंध (?) सहित एक विशाल चबूतरा है जो सम्भवतः भक्तों के सत्संग या तपस्वी-साधुओं का व्याख्यान मण्डप रहा होगा। बटेसर में दो विशाल मंदिर थे जिनमें से एक पूरी तरह ध्वस्त है। दूसरा मंदिर भूतेश्वर महादेव का है जो समय-समय पर पुनर्निर्मित किए जाने की कथा कहता प्रतीत होता है। इसकी एक विस्तीर्ण छत अधोभाग पर निर्मित चौकोर मण्डप सहित गर्भगृह को आच्छादित करती है। इस सम्पूर्ण भाग को चारों ओर बाद में भित्तियों द्वारा घेर दिया गया। इस प्रकार इसकी ऊपरी भाग की वरंडिका और नीचे का जंघा वाला भाग परस्पर पृथक् हो गये हैं। इसका शिखर भी निम्न भाग से पृथक् दर्शित है। इस प्रकार घिरकर प्रच्छन्न हो जाने से यह मंदिर एक गुफा के रूप में परिणत हो गया जिसमें कालान्तर में सम्भवतः विशेष अनुष्ठान किए जाते होंगे। भूतेश्वर महादेव मंदिर की वरंडिका पर स्थानीय वनस्पति, पशु-पक्षी आदि के अंकन हैं। साथ ही गोपाद्रि की त्रयी और दिग्पालों की आकृतियाँ जंघा पर तथा विष्णु और ब्रह्मा की मूर्तियाँ कपिली पर हैं। इसकी तुलापीठ एवं वरंडिका पर घुड़सवारों और महावत सहित हाथियों के तथा वन्य शेर, भालू और बंदरों आदि के अंकन सहज किन्तु अद्वितीय हैं। इन आकृतियों में स्थानीय वन्य जीवों की छाप है जो स्वतः मंदिर के अलंकरण विधान का एक अंग बन गई। बटेसर के एक पुनर्निर्मित मंदिर पर एक विशाल प्रस्तर पट्ट पर शिव के कल्याणसुंदर रूप को दर्शाया गया है जो गोपाद्रि शैली की मूर्तिकला का प्रिय विषय रहा है। बटेसर, शिवपुरी और ग्वालियर की ऐसी अनेक प्रस्तर मूर्तियाँ अब ग्वालियर के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। भूतेश्वर मंदिर से जुड़े एक छोटे मंदिर की जंघा के देवकोष्ठक पर बनी अज-एकपाद की मूर्ति बटेसर के प्रतिमा समूह में विशेषतः उल्लेखनीय है। यह वैदिक देवता गोपाद्रि कला में तेली का मंदिर के मूर्ति संयोजन में पुनः अवतरित हुए। बटेसर मूलतः शैव परम्परा का केन्द्र था। यहाँ चार मंदिरों को छोड़कर शेष सभी शिव को समर्पित हैं। इन चार मंदिरों में तीन विष्णु के और एक महिषमर्दिनी का है।

आठवीं शताब्दी में महुआ में पुनः एक मंदिर निर्मित हुआ जो अपने वास्तु-सौष्ठव के कारण उल्लेखनीय है। ताल योजना में यह मंदिर एक आयताकार मण्डप (अब ध्वस्त) और त्रिरथ प्रकार के गर्भगृह का सम्मिश्रण है। उत्सेछ विन्यास में वेदीबंध से लेकर शिखर तक बने इस मंदिर में जंघा, उनके भद्र एवं उपभद्र पर बने उदगमों एवं उनके ऊपर बनी वरंडिका का समायोजन है। वरंडिका पर तीन तलों का शिखर निर्मित है। इसके कुछ लक्षण, जैसे उभरे हुए विशिष्ट उदगम, उपभद्र, ऊपर और नीचे के तुलापीठ तथा सुविस्तृत वरंडिका, इस मंदिर में गोपाद्री शैली की विकासमय योजना प्रस्तुत करते हैं। मंदिर के द्वार की रचना एवं अलंकरण मूलतः गुप्तयुगीन मंदिरों की याद दिलाते हैं। ऐसे अलंकरण की पुनरावृत्ति आगे चलकर ग्वालियर के तेली के मंदिर में हुई। लाल रंग के बलुआ पत्थर से बना यह मंदिर अत्यन्त उच्च कोटि के वास्तु का भव्य उदाहरण है। मंदिर की जंघा के देवकोष्ठकों में स्थित मूर्तियाँ अब खो चुकी हैं।

महुआ में नवीं शताब्दी में चामुण्डा का मंदिर निर्मित हुआ। यह मंदिर वास्तु रचना में अन्य मंदिरों से पृथक् है, इसमें भद्र, उपभद्र आदि की कोरें शिथिल हैं, उनमें कुशल उभार, उतार-चढ़ाव नहीं हैं किन्तु उसके गर्भगृह में स्थापित चामुण्डा की प्रेतासीन प्रतिमा प्रभावपूर्ण है। यह भी सम्भव है कि यह प्रतिमा इस मंदिर में बाद में रखी गई हो।

इंदोर का गर्गज महादेव मंदिर तकनीकी दक्षता और रचनात्मक कल्पना मिश्रित वास्तुकला का अद्वितीय उदाहरण है। इस मंदिर में किञ्चित् गोलाद्ध में 40 और 60 अक्षांश कोणों पर एक-के-बाद एक बारह भद्रों का निर्माण किया गया है। इस प्रकार के कोणों को काटकर कलाकारों ने वेदीबंध के 'खुर' भाग को बड़ी सफाई से इस योजना में ढाला है और इन पर पत्थर जड़ने के निर्दिष्ट स्थलों को छेनी से बनाए गये चिह्नों से अंकित किया है, कि तदनुसार इसका उठान यथास्थान सुनिश्चित हो। इससे निर्माण की शिल्प पद्धति का साक्षात्कार होता है। अस्तु 40 और 60 अक्षांश के कोणों की समायोजना वर्ग को तीन बार घुमाकर (Rotation of Square) मंदिर की नींव बारह भद्रों में विस्तृत हुई। मंदिर के इन बारह भद्रों में से तीन को प्राक् ग्रीवा के लिए पृथक् किया गया और शेष नौ भद्रों के आयोजन से विमान का उठान सुनिश्चित किया गया। प्राक्ग्रीवा पर प्रवेश द्वार निर्मित है। इस भाँति यह मंदिर अपने तालच्छंद और उत्सेध विन्यास में अनेक विस्तार और सुधारों को

व्यक्त करता है। मंदिर का वेदीबंध अत्यन्त उच्चकोटि की कला का परिचय देता है। वरंडिका का अधोभाग कुशलतापूर्वक उत्कीर्ण तुलापीठों से और ऊपरी भाग अप्सराओं, गणों और अन्य उपदेवताओं की प्रतिमाओं से सुसज्जित है। प्रवेश द्वार पर रूपशाखा है और शिखर, जो अब ध्वस्त प्राय है, 'लताओं' और 'वेणुकोशों' से बना है। निम्न भाग में जंघा पर स्थित 'भद्रों' से निसृत 'लतारें' वरंडिका से मंदिर के ग्रीवा भाग तक उठती हुई वेणुकोशों और कर्णों में बदल जाती है। भद्र भाग के देवकोष्ठक उद्गम युक्त है। उद्गम के नीचे बने गवाक्षों में गोपाद्रित्रयी और दिग्पालों की मूर्तियाँ हैं। कपिली पर अत्यन्त प्रभावशाली ईषान और इन्द्र की प्रतिमाएँ हैं। मंदिर के प्रवेश द्वार के शिरदल पर युग्मों में सात मातृकाएं, नटराज, गणेश और वीरभद्र, अर्थात् कुल दस आकृतियाँ हैं जो छोटे-छोटे अलंकारिक देवालयों में प्रस्थापित हैं। यह सभी प्रयोग नये हैं। इनके द्वारा गोलाकार सितारे की आकृति वाले इस मंदिर की अभूतपूर्व योजना में मौलिक कल्पना को साकार किया गया है। इस मंदिर से स्पष्ट है कि कलाकारों के संकोच इस समय तक समाप्त हो चुके थे और वे जटिल निर्माणों की ओर प्रेरित एवं सिद्धहस्त हो गये थे। दुर्भाग्यवश यह मंदिर अब अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है।

इंदौर के बाद केलधार का मंदिर और भी सुविकसित कला का उत्कृष्ट प्रमाण है। इसकी मूर्तिकला, विशेषकर गोह (गोधा) पर आसीन गौरी (उमा) तथा ऐरावत पर आरोहित इन्द्र की प्रतिमाएँ विलक्षण हैं। इनमें अपूर्व मौलिकता की समायोजना है। केलधार के उपरान्त ग्वालियर के वायिल्लभट्ट स्वामी (चर्तुभुज) मंदिर (875 ई.) का निर्माण हुआ। तदुपरांत गोपाद्रि का नवदुर्गा (तेली का मंदिर) लगभग 876 ई. में निर्मित हुआ, जो अपने वास्तुवैभव के कारण विशेषतः उल्लेखनीय है।

तेली के मंदिर (नवदुर्गा) की तिथि तथा इसमें स्थापित देवी-देवता के विषय में मतभेद रहा है। एम. बी. गर्दे ने मंदिर निर्माण का स्रोत दक्षिण भारतीय माना है और उनके अनुसार गुर्जर प्रतिहारों की एक तेलंगाना की रानी ने इसका निर्माण करवाया था। गर्दे का विचार था कि इस मंदिर का शिखर दक्षिण भारतीय शैली का है और 'तेलंगाना' नाम का अपभ्रंश 'तेली' के नाम से इस मंदिर से जुड़ गया। किन्तु यह मत निराधार है, तथा 'वलभी' प्रकार का इसका शिखर, जो इसकी विशेषता है, और जिसे गर्दे ने दक्षिण भारत से जोड़ा था, केवल दक्षिण में ही नहीं वरन् उत्तर भारत में भी प्रचलित था। ऐसे



शिखर गंगाघाटी और उत्तरांचल में भी लगभग समकालीन संदर्भों में ज्ञात हैं।

ग्वालियर से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार 'वृश्चिकला नंदी के पार', 876 ई. में 'नवदुर्गा' मंदिर का निर्माण हुआ इसमें "रूद्रा, रूद्रांशा, पूर्णाशा इत्यादि" देवियों की स्थापना हुई। एक अभिलेख में यह भी उक्ति है कि ग्वालियर की समृद्ध "तैलिक श्रेणी" मंदिर में दीपक जलाने का प्रबंध करती थी। अतएव यह अनुमान अप्रासंगिक नहीं होगा कि इस प्रकार का सम्बन्ध लोक परम्परा में विख्यात हो गया और तेलियों की श्रेणी से इसका निकट सम्बन्ध होने के कारण इसका नाम 'तेली का मंदिर' पड़ गया। मंदिर का आयताकार गर्भगृह यह प्रमाणित करता है कि इसमें नवदुर्गाओं की मूर्तियाँ एक पंक्ति में समायोजित की गई होंगी। गर्भगृह के प्रवेश द्वार पर दो नारी प्रतिहारी मूर्तियाँ तथा वरंडिका के दो आल्यों में दो देवी मूर्तियाँ भी इसी तथ्य की ओर इंगित करती हैं। कपिली पर देवकोष्ठक में स्थापित भयंकरी एक देवी का मूर्ति जिसका अब केवल अभिलेख ही शेष है, भी इस मंदिर के नवदुर्गा मंदिर होने के तथ्य को प्रमाणित करती हैं। इस अभिलेख वाले रिक्त देवकोष्ठक में एक विस्तृत अभिलेख अवशिष्ट हैं जिसके अनुसार वहाँ देवी की एक भयंकर रूप की प्रतिमा के स्थापित होने के संकेत मिलते हैं। गर्दे को इस मंदिर के मलवे में देवी की एक मूर्ति मिली थी जो अब दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। इस मूर्ति का आकार उपयुक्त देवकोष्ठकों के ही समानान्तर है। अतः यह निष्कर्ष सम्भव है कि वह मूर्ति भी मंदिर के किसी एक देवकोष्ठक में आसीन रही होगी। इस प्रकार हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ग्वालियर अभिलेख का 876 ई. में निर्मित 'नवदुर्गा' मंदिर ही वस्तुतः कालान्तर में तेली के मंदिर नाम से विख्यात हुआ। यह मंदिर वास्तुकला में वलभी शिखर का अद्वितीय उदाहरण है। इसमें प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों के विकसित लक्षण हैं और इसकी सुविस्तृत रचनात्मक उत्कृष्टता निःसंदिग्ध है। इसके मूर्ति संयोजन तथा रूपरेखा में कुछ भी ऐसा नहीं है जो इस क्षेत्र में अन्यत्र उपलब्ध हो। परन्तु सुकुमार उत्कृष्टता एवं रचनात्मक कल्पना अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अद्वितीय है।

इस मंदिर में त्रिरथ प्रकार का आयताकार गर्भगृह है जिसके अग्रभाग में कपिली द्वारा प्रथक होती हुई प्राक्-ग्रीवा है। बाह्य भाग में सबसे ऊपर गर्भगृह को आच्छादित करता हुआ वलभी शिखर है। नीचे के भाग में एक अधिष्ठान पर वेदीबंध स्थापित है। और सामने की ओर सीढ़ियाँ चढ़कर अन्दर

पहुँचने का द्वार है। प्रवेश द्वार गुप्त परम्परा की याद दिलाता हुआ, अंग्रेजी के अक्षर T के आकार का है। इस प्रवेश द्वार पर अत्यन्त कुशलतापूर्वक सुसज्जित रूपशाखाओं में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ परिचारकों सहित उत्कीर्ण हैं। मंदिर के विन्यास में सभी अंगों का कुशल एवं भव्य निरूपण है। इसका ऊँचा वेदीबंध, अनेक स्तरों में ऊपर उठते हुए अंततोगत्वा दो क्रमों में समाविष्ट हो गया है जो एक के ऊपर एक आयोजित हैं। दो हारपत्तियों में मूर्ति सज्जा इस मंदिर को अनूठी शोभा प्रदान करती है क्योंकि इसके पूर्व इस प्रकार की समायोजना कहीं नहीं मिलती है। मूर्तियों के अधोभाग वाले समूह में शिव, ब्रह्मा, अज एकपाद, गणेश, कार्तिकेय, गजासुरसंहार मूर्ति, एक जिन मूर्ति, दिग्पाल आदि उल्लेखनीय हैं। गणेश की अनेक मूर्तियाँ बीच-बीच में नृत्य मुद्रा में अंकित हैं। यह मूर्ति समूह मंदिर के चारों तरफ निर्बाध गति से बना हुआ है। ऊपरी समूह में अत्यन्त सुन्दर नक्काशी है जिसमें वनस्पति, पशु पक्षी आदि कुशलतापूर्वक उच्च कोटि के कलात्मक ढंग से बनाये गये हैं। इनका लहराता हुआ सा सुकुमार अंकन भव्य कला का परिचय देता है। एक रोचक तथ्य यह है कि वेदीबंध की कुछ शिलाओं पर स्थानीय अपभ्रंश संस्कृत में 'पछम', 'बायवी', 'निरिति' आदि शब्द लेख खुद हुए हैं। परन्तु इस प्रकार के निर्देशित संकेतों के बावजूद भी इनका पूर्णतया इन दिशाओं में संयोजन नहीं हुआ है। सम्भवतः निर्माण के पूर्व यह सभी शिलाखण्ड एकत्रित किए गये होंगे और उन पर दिशा के अनुसार वायव्य-आदि दिशा निर्देश उत्कीर्ण किए गये होंगे। परन्तु बाद में समय की कमी अथवा अन्य किसी कारण से उन्हें भ्रमवश सही दिशाओं में नहीं रखा गया। तेली के मंदिर (नवदुर्गा) के कपिली और जंघा के भद्रों और कर्णों पर सुविस्तीर्ण द्वारशाखाओं और उदगमों सहित देवकोष्ठक सुशोभित हैं। उदगमों के नमूने भिन्न-भिन्न हैं। और कर्ण के देवकोष्ठकों पर 'लतिन' शिखर हैं। आयताकार मंदिर की लम्बी भुजा पर जंघा के प्रतिभद्रों पर अंकन कुछ लम्बाई लिए हुए हैं। भद्र भागों पर अनेक चैत्य गवाक्ष कुशलतापूर्वक उकेरे गये हैं। जंघा के ऊपर वरंडिका है और उनके मध्य में कपोत दोनों भागों को परस्पर भिन्न करता हुआ अंकित है। वरंडिका के ऊपर तुलापीठ शिखर के समारंभ को प्रदर्शित करती है। कर्ण भाग पर आमलकों के साथ मंदिर का शिखर दो तलों में नागर शिखर की भाँति उठता है। इसके ऊपर वलभी शिखर पुनः दो तलों में एक के ऊपर एक समायोजित है। आयताकार योजना में छोटे पार्श्व भागों में नागर शिखर का लतिन रूप उसके मध्य भाग पर नहीं है बल्कि चैत्य गवाक्षों का यहाँ बड़ा सुरुचिपूर्ण जाल सा बना है जो ऊँचाई की और

उठता हुआ है। दोनों ओर गवाक्षों में देवी की मूर्तियाँ हैं। सामने की तरफ, अपेक्षाकृत लम्बे आकार में, नीचे की ओर देवकोष्ठकों की एक लम्बी पंक्ति है जिनमें सम्भवतः नवदुर्गा परिवार देवताओं की मूर्तियाँ रही होंगी, जो अब वहाँ नहीं हैं।

मंदिर की मूर्तियों में प्रवेश द्वार के निकट लकुलीश की उत्कृष्टित मुद्रा में योगपट्ट सहित विलक्षण मूर्ति अंकित है। उनके पास उनके चार शिष्य—कुशिक, गागर्ग्य, करुष और मैत्रेय एक विहंगिका लिए हुए दिखाये गये हैं, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं। प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों में लकुलीश की अनेक एकाकी मूर्तियाँ हैं। और ऐसी ही एक मूर्ति इस मंदिर की मूर्ति पंक्ति में भी है। परन्तु लकुलीश के शिष्यसमूह सहित यह मूर्ति अपने आपमें एक अनन्य उदाहरण है। इस मंदिर पर सुसज्जित ब्रह्मा, शिव, अज एकपाद और देवी की विविध मूर्तियाँ कुशल कलाकारी का परिचय देती हैं। ये मूर्तियाँ पूर्ण विकसित कमल पर आसीन, दर्शकों की ओर उन्मुख सी प्रतीत होती हैं। उनका यह किञ्चित सामने की ओर झुकाव दर्शक को देवता के सामीप्य का अनुभव कराता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि देवता स्वयं ही भक्तों की ओर उन्मुख हैं। ये, और ऐसी ही अन्य मूर्तियाँ, मंदिर की नक्काशी, लताओं और सुन्दरता के अनूठे समायोजन से एक दैवी स्पन्दन जगाती हुई सी पाषाण में उकेरी गई सजीव, जागृत कविताएँ हैं।

गवालियर का यह नवदुर्गा (तेली का) मंदिर गोपाद्रि शैली के सौष्ठव, सौन्दर्य एवं उत्कृष्टता की पराकाष्ठा है। इसके पश्चात् इसमें हास प्रारम्भ हो गया। और तेराही तथा सेसई आदि में प्रारम्भिक शैली के जो मंदिर बने, उनमें शैलीगत वह प्रखरता नहीं रही।

### III

## परवर्ती गोपाद्रि शैली : दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक

गोपाचल क्षेत्र में इस युग के मंदिरों के विषय में निर्णायक निष्कर्ष किञ्चित कठिन है। क्योंकि इनके निर्माण के विषय का न तो कोई निश्चित या अधिकारिक इतिहास ही ज्ञात है और न ही इन मंदिरों के निर्माण आदि का सम्पूर्ण अध्ययन अभी तक हो सका है। अतएव, इनका क्रमिक विकास या वर्गीकरण करते समय सावधानी की आवश्यकता है। पूर्व में हमने शैव सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में इनके निर्माण की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस चर्चा में गोपाचल

के इतिहास की भूमिका गौण रूप से उल्लिखित है। यद्यपि राजनीतिक योगदान इन मंदिरों के सन्दर्भ में बहुधा गौण रहा तथापि तिथि निर्धारण के सहायक के रूप में इनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। अस्तु, हम समकालीन गोपाचल क्षेत्र का संक्षिप्त इतिहास देने का प्रयास करेंगे और इसकी सांस्कृतिक अस्मिता स्थापित करने का भी यत्न करेंगे। यह विवरण पूर्ववर्ती मंदिरों और वास्तुकला के तारतम्य में है। किन्तु यह परवर्ती काल बदलते हुए सामंतों का काल है। गोपाद्रि में इस युग में भी किसी शक्तिशाली राजवंश का अभ्युदय नहीं हुआ। कुछ राजवंशों के जनजातीय मूल भी प्रकट होते लगते हैं। इस वस्तुस्थिति में स्थानीय शक्तियों द्वारा गोपाचल क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास इतिहास में परिलक्षित होता है। स्थानीय राजवंशों में ग्वालियर के (950-1105 ई.), दूबकुंड (डोब, 1000-1125 ई.) तथा नरवर (प्राचीन नलपुर, 1075-1125 ई.) के कच्छपघात उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त नरवर में याज्वपाल (1217-1300 ई.) और मालवा में परवर्ती प्रतिहार (लगभग 912 से 1225 ई.) तथा गोपाद्रि में पुनः परवर्ती प्रतिहारों की एक शाखा (ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी) स्थापित रहे।

इन शक्तियों में कच्छपघात और याज्वपाल क्रमशः जेजाकमुक्ति के चंदेलों और रणथम्भोर के चाहमानों के सामंत थे। इनसे पूर्व गुर्जर-प्रतिहारों के आटविक 'वीर' सामंत, 'महासामंताधिपति' उंदभट (903-4) के वंशज और उनके उत्तराधिकारी परवर्ती प्रतिहारों ने गुना-शिवपुरी क्षेत्र में आधिपत्य स्थापित किया। उंदभट (903-4) और महाराजाधिराज दुर्भट (912-13 ई.) से होते हुए गोभट, नीलकंठ (निष्कलंक 948-49; 968-979), 'नृप चक्रवर्ती' हरिराज (984 ई.) और उसके दस उत्तराधिकारियों ने गोपाचल के दक्षिणी भाग में गुना जिले में शासन किया। चंदेरी, कदवाहा और थुबोन जैसे स्थानों पर अनेक मंदिरों का निर्माण और विकास उनके समय में हुआ। इन विविध राजवंशों के साथ ही हमें शिवपुरी जिले के कुरेठा ताम्रलेख में मलयवर्मन (1221-1290 ई.) का तथा गोपाद्रि के निकटवर्ती भाग में अन्य परवर्ती प्रतिहारों (1105-1257) का वर्चस्व ज्ञात होता है। परवर्ती प्रतिहारों के चंदेलों से वैवाहिक सम्बन्ध भी थे। ये सभी राजवंश परस्पर स्वतंत्र रहकर अपनी सीमाओं में गोपाद्रि क्षेत्र का क्षत-विक्षत इतिहास प्रकट करते हैं। इन शक्तियों का एक-दूसरे की सीमाओं से प्रवेश या अधिकार गोपाचल क्षेत्र के विश्रंखल इतिहास की ओर इंगित करते हैं, तथा परस्पर प्रतिस्पर्धा का चित्रण करते हैं।

यहाँ का आंचलिक अंतर्क्षेत्र निरन्तर अशांत रहा प्रतीत होता है। "भट", "राजवीर" और अन्य वन्य जनजातियाँ, जिनमें स्पष्ट ही कच्छपघात भी सम्मिलित थे, चम्बल घाटी के मध्य स्थित वनप्रांतर में सतत क्रियाशील रहे। अनुमानतः चम्बल घाटी के बीहड़ (कच्छ ?) में रहने वाले कच्छप वीर स्वयं को मुरैना क्षेत्र की नदियों के कच्छप जन्तुओं से सम्बन्धित करते रहे होंगे। और उन्हें समाप्त करने वाली शक्तियों ने स्वयं को कच्छपघात अर्थात् "कच्छपों का घातक" कहा। उनके बल से कच्छप जनजाति समाप्त हो गई होगी। मुरैना क्षेत्र की नदियों में आज भी कछुओं की भरमार है जो प्राचीन काल में इस क्षेत्र के जन्तु और जाति को परस्पर जोड़ते होंगे। (अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी तक सिंधिया राजाओं के सैनिक कछुओं की पीठ के कवच से ढालें बनाया करते थे, यह सूचना मुझे अपने मित्र सरदार विजय सिंह मोहिते से प्राप्त हुई)। जहाँ तक याज्वपालों (जज्जपेल्ल) का सम्बन्ध है, ये पार्वती नदी की घाटी के दक्षिणी क्षेत्र में शक्तिशाली हुए और चामुण्डा उनकी इष्टदेवी थीं। दुर्भट, गोभट और उंदभट जैसे 'भटों' के वंशज गुर्जर प्रतिहारों के सामंत थे। और सम्भवतः वही आगे चलकर परवर्ती प्रतिहारों के नाम से गुना क्षेत्र पर शासन करने लगे। इन प्रतिहारों में निष्कलंक तथा उसका उत्तराधिकारी 'नृप चक्रवर्ती' हरिराज एवं उसके दस वंशज थे। इनका अधिकार क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं रहा होगा। किन्तु इनके पूर्ववर्ती "भट" नामांत राजाओं के संघर्ष में चालुक्य अवनिवर्मन का वंश भी नवीं-दसवीं शती में अलग नहीं रहा।

इस प्रकार की बँटी हुई राजव्यवस्था में किसी सुनिश्चित संरक्षण के अभाव में किसी सर्वव्यापी विशेष पद्धति की कला शैली के विकास का कोई अवसर नहीं था। राजवंशों की अपनी-अपनी कला परम्परा स्थापित करने का उपक्रम आधुनिक लेखनों में अक्सर प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस क्षेत्र में नितान्त अपनी सर्वव्यापी कला शैली के विकास के प्रबल सूत्र अभी तक स्पष्ट नहीं प्रतीत होते हैं। प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली एवं तदुपरांत परवर्ती गोपाद्रि शैली का उत्तरोत्तर विकास हुआ, जिसमें कालान्तर से अनेक परिवर्तन आए। परवर्ती गोपाद्रि शैली में शैव परम्परा से इतर वैष्णव सम्प्रदायों का भी विकास परिलक्षित होता है। ग्यारहवीं शताब्दी में बने सुहानिया (ककनमठ) और ग्वालियर (सास बहू का मंदिर) जैसे एकल वास्तु निर्माण इस युग की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। स्पष्ट है कि प्रारम्भ में गोपाचल क्षेत्र में शैव सिद्धान्त मठों के संरक्षण में एक सुगठित और सुनियोजित वास्तुशैली का अविरल विकास हुआ। पढ़ावली, सुरवाया,



रन्नोद, कदवाहा और थुबोन के मठों द्वारा कला को संरक्षण प्रदान किया गया। इनमें कदवाहा और थुबोन कालान्तर में भी महत्वपूर्ण रहे क्योंकि दोनों ही स्थलों में परवर्ती गोपाद्रि शैली के मंदिरों का विशाल समूह है जिनमें अनेक अपनी मूर्तिकला और वास्तु की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इनका निर्माण परवर्ती प्रतिहारों के समय में हुआ।

इस भाँति 950 से 1300 ई. तक गोपाचल क्षेत्र में तीन विविध राजवंशीय क्षेत्रों का रूप उभरता है। इन राजवंशों में गोपाचल का उत्तरी और पश्चिमी भाग (ग्वालियर, मुरैना, भिंड और नरवर सहित पार्वती नदी की घाटी), कच्छपघात वंशों के अधीन था। गोपाचल क्षेत्र का दक्षिणी भाग जो गुना से शिवपुरी तक विस्तृत था, परवर्ती प्रतिहारों के अधीन 912 से 1225 (?) ई. तक रहा। शिवपुरी और उसके आस-पास का मध्य भाग गोपाद्रि के प्रतिहारों (लगभग 1105 से लगभग 1251 ई.) तथा याज्वपालों (1217-1300 ई.) के अधिकार में रहा। इसी समय दिल्ली में सुल्तानों का अभ्युदय हो चुका था जिन्होंने इस क्षेत्र पर अपनी सत्ता स्थापित की।

इन क्षेत्रीय राजवंशों के पारस्परिक सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रहे होंगे। जब एक सत्ता दूसरों के क्षेत्र में हस्तक्षेप करती थी, तब उसका परिणाम युद्ध होता था। इस तरह के अनेक प्रसंग प्राप्त हैं, जैसे : चंदेलों के सामंत के रूप में कच्छपघातों ने अपने आधिपतियों का साथ गुर्जर प्रतिहारों के विरुद्ध दिया। कच्छपघात कीर्तिराज का युद्ध मालवा के परमार शासक भोज से हुआ। शिवपुरी क्षेत्र के एक (प्रतिहार) राजा मलयवर्मन ने 1232 ई. में ग्वालियर पर अधिकार स्थापित कर लिया था। चंदेल राजा वीरसिंह ने विक्रम संवत् 1338 में पिछोर (जि. शिवपुरी) के निकट वलुआ नामक ग्राम के स्थलों पर यज्वपाल गोपालदेव पर आक्रमण कर, घोर संघर्ष किया। इससे भी पूर्व मुहम्मद गजनी ने 1022 ई. में गोपाद्रि के कच्छपघात नरेश कीर्तिराज के नगर का घेरा डाला था। यह घेरा चार हाथियों के सौदे के बाद उठा लिया गया था।

इस प्रकार की राजनीतिक पृष्ठभूमि में गोपाचल क्षेत्र में प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली जैसी सुगठित एवं अविरल विकासमान शैली अब विकसित नहीं हो सकी। इसके बजाय यहाँ अब एक मिश्रित मंदिर वास्तु शैली का चलन हुआ, जिसमें विभिन्न क्षेत्रों के लक्षणों का सम्मिलन है। ये लक्षण पश्चिम भारत के सोलंकी क्षेत्र, चंदेल क्षेत्र एवं राजस्थान के मंदिर एवं मूर्ति परम्परा से प्रभावित हैं। इनके प्रशस्त उदाहरण ग्वालियर, सुहनियाँ और पढ़ावली में हैं।

यह भाग कच्छपघातों का सुदृढ़ गढ़ था। अतः यहाँ के उदाहरणों में कला की प्रखरता है। एवं राजाओं का योगदान भी परिलक्षित होता है। पढ़ावली इस सन्दर्भ में अपवाद है। परवर्ती निर्माण इनकी तुलना में अपेक्षाकृत नगण्य रहे। इन वास्तुरूपों में शैलियों के मिले-जुले रूप हैं। परिणामस्वरूप गोपाचल क्षेत्र में मंदिरों के अनेक एकल उदाहरण कभी-कभी उत्कृष्ट और भव्य हैं। परन्तु जहाँ मंदिर समूह हैं, उनमें कई निर्माण उपेक्षित रह गये। राजसंरक्षण भी कतिपय मंदिरों, जैसे सास बहू या ककनमठ के लिए सहायक था। तभी ये मंदिर सुरक्षित एवं संसाधन युक्त केन्द्रीय स्थलों पर बने। परन्तु राजवंशों से अपोषित अन्य स्थलों पर वस्तुस्थिति भिन्न थी। जैसे, यहाँ (कदवाहा, धुबोन) सैद्धान्तिक शैव आचार्यों के संरक्षण में निर्माण हुए। और इनके समूह उन स्थलों को पावन स्थली के रूप में निर्धारित कर गये।

गोपाचल क्षेत्र की परवर्ती गोपाद्रि शैली का अध्ययन करने के लिए हमें उनके भौगोलिक पहलू पर भी विचार करना होगा। कच्छपघातों की तीन शाखाओं के अन्तर्गत व्यवस्थित क्षेत्र तथा परवर्ती प्रतिहारों एवं याज्वपालों के शासन के अन्तर्गत क्षेत्रों में फैले ये मंदिर परवर्ती गोपाद्रि शैली के परिचायक हैं। किन्तु यहाँ हम परिस्थितिवश गोपाचल क्षेत्र के कच्छपघात भूभाग के मंदिरों का ही विवरण प्रस्तुत करेंगे, जो निम्नवत हैं।

कृष्णदेव (1995) और विलिस (1996) के अध्ययन के अतिरिक्त कच्छपघातकालीन मंदिरों पर कोई समुचित अध्ययन नहीं किया है। विलिस के लेखन में भी कृष्णदेव का ही मुख्यतः अनुसरण है। परन्तु इनमें विलिस के कुछ निष्कर्षों में परिवर्तन भी आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ, लेखक द्वारा पहिचानी नई सूचना के अनुसार कदवाहा के मंदिर (संख्या 1) पर "प्रतिहार" लेख अंकित हैं जिससे उसके परिवर्ती प्रतिहार संबंध का आभास होता है। ऐसा ही राजनैतिक नियंत्रण परवर्ती प्रतिहार राजा हरिराज के समय में परिलक्षित होता है जिसने कदवाहा में निर्द्वन्द्व प्रवेश किया और वहाँ के आचार्य से दीक्षा प्राप्त कर उन्हें समुचित दानादि दिए। इसी प्रकार तिलोरी का सम्बन्ध कच्छपघातों से विलिस ने जोड़ा है जबकि अभिलेख द्वारा वहाँ याज्वपालों की उपस्थिति का संकेत मिलता है। नरेसर के विक्रम संवत् 1245 - 1188-89 ई. के एक अभिलेख में नरेसर में रावल वामदेव का उल्लेख है, जिसके अधिकार क्षेत्र में यह स्थल था।

कच्छपघातों के समय के मंदिरों में चार मंदिर मुख्यतः उल्लेखनीय हैं

जो भग्न अवस्था में क्रमशः सुरवाया, पढ़ावली (दसवीं शताब्दी), दूबकुंड (अब केवल भग्नावशेष) और ग्वालियर (ग्यारहवीं शताब्दी) में हैं। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे मंदिर प्रतिरक्षण या विध्वंस की विभिन्न स्थितियों में विद्यमान हैं। ऐंती, नरेसर (वि. सं. 1245), बटेसर, तिलोरी, बाराहेट, हरदोनी और भैंसोरा इत्यादि मंदिर स्थल उत्तरी गोपाचल क्षेत्र में तथा कुंडलपुर, मेमन इत्यादि मंदिर स्थल मध्य गोपाचल क्षेत्र में विद्यमान हैं। अन्य अनेक स्थानों पर ऐसे मंदिर मध्य तथा उत्तर गोपाचल क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं। यह सभी कच्छपघातों के समय के प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ का विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

दूब कुंड के 1008 ई. के एक अभिलेख में यहाँ के एक जैन मंदिर का विवरण है। यह मंदिर दाहद द्वारा बनाया गया था और स्थानीय जैन समुदाय ने इसके निर्माण में योगदान किया था। इस निर्माण में दूबकुंड (डोब) के कच्छपघात राजा विक्रम सिंह से भी सहायता मिली। दूबकुंड से वि. सं. 1152 की एक जैन मूर्ति भी प्राप्त है।

यदि कृष्णदेव की व्याख्या को स्वीकार करें तो कच्छपघातों के संरक्षण में मंदिरों का निर्माण पूर्वी मालवा में विदिशा के निकट ग्यारसपुर में "अठखम्भा" नामक शिव मंदिर "चौखम्भा" नामक विष्णु मंदिर, "हिंडोला तोरण" नामक विशाल द्वार और 'वज्रमठ' से प्रारम्भ हुआ। एक तीर्थयात्री के विवरण के अनुसार अठखम्भा मंदिर के निर्माण की तिथि 982 ई. मान्य की गई है। इसी विवरण में 'कृष्णेश्वर' मंदिर का भी उल्लेख है जो चंदेल राजा धंग के भाई कृष्णप के नाम पर बना था। ग्यारसपुर के इन दोनों मंदिरों के अब केवल भग्नावशेष हैं। किन्तु हिंडोला तोरण अपेक्षाकृत सुरक्षित है।

हिंडोला तोरण दो खंभों पर बना है। यह खम्भे दशावतार के दृश्यों से तथा अन्य अनेक मूर्तियों और ज्यामितिय नमूनों से सुसज्जित हैं। सबसे ऊपर इसमें दो प्रस्तर (Cross-bems) सूचियाँ हैं, जो एक के ऊपर एक समायोजित हैं, तथा इनमें दो अत्यन्त सुंदर उकरी गयी मालाएँ (Loop) हैं जो मूलतः अलंकारिक हैं परन्तु ये ऊपर वाली सूचीशिला का बोझ नीचे की ओर स्थानान्तरित करते हैं। नीचे वाली अपेक्षाकृत छोटी प्रस्तर सूची दो खम्भों के शीर्ष (Capital) पर स्थित है और उन दोनों पर भी छोटे-छोटे स्तम्भ उसी तरह के शिखर से सुशोभित हैं। ऊपरी प्रस्तर सूची भी छोटे-छोटे स्तम्भों पर आधारित हैं, एवं इन पर मूर्ति सज्जा भी है। यह सम्पूर्ण द्वार पीठ भाग से लेकर विविध आकार के सुसज्जित स्तम्भों पर उत्कृष्ट सज्जायुक्त शीर्षों (Capital) से

अलंकृत है। द्वार का ऊपरी भाग विष्णु के दशावतारों से, कीर्तिमुखों से और वनस्पतियों तथा फूल-पत्तियों के नमूनों से कुशलतापूर्वक उत्कीर्ण किया गया है।

परन्तु अन्य प्रभावशाली कच्छपघात निर्माण सुरवाया, पढ़ावली, सुहानियाँ और ग्वालियर में परिलक्षित होते हैं। सुरवाया याज्वपालों के समय में 'सरस्वती पत्तन' के नाम से विख्यात था। इससे पूर्व यह शैव सिद्धान्त के केन्द्र सहित कई स्थितियों से होकर विकसित हुआ। यहाँ 1292 में एक सुविस्तीर्ण दुर्ग निवेश स्थापित हुआ, जिसे पन्द्रहवीं शताब्दी में संवर्धित किया गया। इस सुविस्तृत दुर्ग में अनेक मंदिर एवं अन्य स्मारक बने जिनमें से कुछ वहाँ पर दुर्ग निर्माण के पूर्व ही विद्यमान थे। इन भवनों में, पत्थरों से बना हुआ एक मठ है जिसे हम 700 ई. में स्थापित शैव सिद्धान्त से सम्बन्धित मानते हैं। इसके अतिरिक्त दुर्ग की प्राचीर के अंदर सुरवाया में तीन मंदिर और एक बावड़ी है। इन प्रारम्भिक निर्माणों में दुर्ग के खुले हुए परिसर में स्तम्भ युक्त मंडपों और विशाल कक्षों से परिपूर्ण मठ है जो आठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक विकसित होता रहा। मठ के पार्श्व में बना मंदिर (संख्या 1) और पढ़ावली का मंडप कच्छपघातों के प्रारम्भिकतम निर्माण प्रतीत होते हैं। सुरवाया के अन्य दो मंदिर (संख्या 2 और 3) बाद के हैं जो परवर्ती प्रतिहारों के समय में बने होंगे, जब सतनबाड़ा, सुभाषपुरा आदि में मंदिरों का निर्माण हुआ।

सुरवाया का महत्व कच्छपघातों की अपेक्षा शैव सिद्धांतिकों के कारण है। किन्तु यहाँ मंदिर (संख्या 1) का निर्माण कच्छपघातों के समय में हुआ। इससे पूर्व, यहाँ के वैभवसम्पन्न आचार्य मठ के एक गुहा जैसे कक्ष में रहते थे जहाँ उनकी विशाल पत्थर की एक शैय्या थी। इस शैय्या के ठीक ऊपर, जैसे गर्भगृह पर शिखर, वैसे ही मंदिर की भाँति ऊपरी भाग पर नवीं शताब्दी में एक शिखर का निर्माण किया गया, इस भाँति जैसे आचार्य को देवपद समर्पित किया गया हो। इस तरुणालय शिखर की रचना में एक सम्पूर्ण मंदिर की प्रतिच्छाया है। यह निर्माण कच्छपघातों के पूर्व का है किन्तु प्रसंगवश इसका यहाँ उल्लेख किया गया।

दसवीं शताब्दी में सुरवाया के मठ से जुड़ा मंदिर (संख्या 1) बना। वैष्णव संदर्भों से परिपूर्ण यह मंदिर रोचक है और अध्येताओं को भ्रम में डालता है कि इसे किस देवता को समर्पित माना जाए। कृष्णदेव ने इस मंदिर को वैष्णव मंदिर माना है। किन्तु मंदिर के मण्डप के स्तम्भों पर शैव तपस्वियों की

मूर्तियाँ हैं। प्रवेश द्वार की शाखाओं पर संत-मिथुन, देवी-देवता और वैष्णव कथाओं का अंकन है। मण्डप के वितान पर बनी कड़ियों में भी ऐसे ही दृश्य हैं। इस प्रकार यह मंदिर शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों का सम्मिलन प्रस्तुत करता है जिसके उदाहरण अन्यत्र भी उपलब्ध हैं। जैसे विष्णु और सूर्य की मूर्तियाँ नरेश्वर के देवी मंदिर से, और ऐसी ही सम्मिलित मूर्तियोजना तेली के मंदिर पर भी द्रष्टव्य हैं।

सुरवाया का मंदिर (संख्या 1) स्पष्टतः शैव मंदिर है क्योंकि इसके प्रवेश द्वार पर शिरदल पर बनी नरेश मूर्ति है, और इसके गर्भगृह में (जो अब रिक्त है) बीचोबीच एक छिद्र है जो शिवलिंग की पीठिका का सूचक है। यह मंदिर अब जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है, किन्तु इसकी मूर्तिकला पढ़ावली से मिलती-जुलती है। विशेषकर इसमें कथा-विवरण की प्रवृत्ति और वर्णनात्मक शैली ध्यान देने योग्य है। तालयोजना की दृष्टि से मंदिर में मण्डप सहित, शिखर रहित एक पंचरथ प्रकार का गर्भगृह है। मण्डप और गर्भगृह के बीच कपिली है और ये सब भाग एक 'पीठ' पर निर्मित है।

मण्डप के स्तम्भों पर शैव आचार्यों एवं उनके शिष्यों की मूर्तियाँ हैं। ऊपर की ओर ये स्तम्भ वितान बनाते हुए मूर्तियों एवं दृश्यों से युक्त कड़ियों (Architraves) को संभाले हैं। वितान के मध्य ये सुंदर घुमावदार रचना (Cusped Arches) से सुसज्जित हैं। मंदिर के उत्तरी भाग में अवशिष्ट भग्नावशेषों से प्रकट है कि इस मंदिर का गर्भगृह और कपिली पाँच स्तरों की पीठ सहित एक वेदीबंध पर निर्मित है जो जंघा तक कपोतों द्वारा परस्पर प्रथक दर्शित है। वेदीबंध के आल्यों में मूर्तियाँ हैं, और आल्यों पर उद्गम है। जंघा के दोनों भद्र और उनके ऊपर की वरंडिका अब ध्वस्त हैं तथापि कपिली के देवकोष्ठक में महिषासुरमर्दिनी विद्यमान है। मंदिर के कर्ण पर गंगा, वायु एवं विष्णु की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। मंदिर का शिखर अब लुप्त है किन्तु मूर्तिकला उच्च स्तर की है। ये मूर्तियाँ मंदिर के विभिन्न भागों में द्वारशाखाओं पर, ललाट पर, प्रस्तरों और स्तम्भों पर, वितान और कोणों पर, अर्थात् सर्वत्र उत्कीर्ण हैं। और यह मंदिर इस भाँति अत्यन्त उत्कृष्ट सज्जा से समृद्ध है। मूर्तियों में किसी उत्सव का भी अंकन है और देवता इस उत्सव को देखते हुए अंकित हैं। इसके साथ ही त्रिशूलधारी गणों, गंधर्वों, विद्याधरों, भक्तों, गायकों तथा नर्तकों की मूर्तियाँ भी यथास्थान बनी हैं। मंदिर में गरुड़ासीन विष्णु, सपत्नीक विनायक, वीणाधर शिव, कार्तिकेय, ब्रह्मा, लक्ष्मीनारायण, मातृकाएं एवं नवग्रह के अंकन



भी विद्यमान हैं। सुरवाया दुर्ग के परिसर में दो अन्य मंदिर बारहवीं शताब्दी के हैं। यद्यपि उनमें मंदिर संख्या (1) की पद्धति का ही अनुसरण है परन्तु उनकी मूर्तिकला शिथिल और रूढ़ है।

सुरवाया के मंदिर संख्या 1 के समकालीन निर्माण पढ़ावली (जि. मुरैना) में हुए। यह एक मठ है जिसका विवरण अब प्रस्तुत है। यह मठ सुरवाया की भाँति अठारहवीं शताब्दी के एक दुर्ग की प्राचीर से घिरा है। और स्वयमेव ही भव्य है। गर्भगृह रहित यह मठ मंदिरों की भाँति निर्मित है। इसके मण्डप के सामने एक विशाल प्रांगण है जो धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर विशाल भीड़ की सुविधा हेतु था। प्रांगण का अत्यन्त विशाल क्षेत्र वस्तुतः एक विशाल वेदीबंध पर बनाया गया, जिसके अवशेष दुर्ग की परिक्रमा से स्वतः परिलक्षित होते हैं। पूर्व की दिशा में मठ का प्रवेश द्वार था जो प्राचीर निर्माण के समय बंद हो गया, लेकिन इसे अब दुर्ग की दीवार को तोड़ कर पुनः बना दिया गया है। प्रवेश द्वार तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ थी जिनके दोनों पार्श्वों पर बनी सिंह प्रतिमाएं अभी भी सुरक्षित हैं। कालान्तर में यद्यपि दुर्ग रचना में मठ के अधिष्ठान का उपयोग आधार के लिए हुआ किन्तु मूल अधिष्ठान, वेदीबंध सहित अपरिवर्तित बना रहा।

पढ़ावली का मण्डप प्रांगण के पूर्वी छोर पर एक स्वतंत्र वेदीबंध एवं पीठ पर निर्मित है। यह स्तम्भ युक्त, खुला हुआ मण्डप आयताकार है और पश्चिम की ओर इसमें प्रवेश के लिए सीढ़ियाँ हैं। मण्डप के बीचोबीच चार स्तम्भ हैं जिनके चतुर्दिक स्तम्भों के द्वारा कई वितानों की रचना है। पार्श्व भागों पर कक्षासन हैं, जो बैठने की सुविधा प्रदान करते हैं। स्तम्भों पर स्थित प्रस्तरों पर सुविस्तृत अंकन निपुणता से संयोजित है जिनकी कारीगरी आश्चर्यजनक है। दृश्यों में प्रमुखतः शैव कथानकों के ही अंकन हैं परन्तु इनमें भाँति-भाँति की वल्लरियाँ, मिथुन, गंधर्व, शैव तपस्वी आचार्य और उनके सेवक तथा शिष्य, युद्ध के दृश्य, निपुणता से बने प्रेत-कंकाल आदि, सप्तमातृका, कृष्णलीला के दृश्य, शिवलिंग की पूजा करते हुए शैव आचार्य, सैनिक, हाथी, घोड़ों और ऊँट पर सवार मण्डली की शोभायात्रा, संत समागम इत्यादि अद्वितीय कला कौशल का परिचय देते हैं। देवमूर्तियाँ तथा अन्य अभिप्रायों में महिषमर्दिनी, चामुण्डा, पार्वती, कार्तिकेय, गणेश तथा सूर्य के अंकन हैं। इनमें भी सबसे बढ़कर शिव हैं। सभी के अत्यन्त सुस्पष्ट एवं सुविस्तृत अंकन हैं। किन्तु इतनी सघन कारीगरी वाले प्रस्तरों पर बने दृश्य रोचक हैं। मूर्तियों की यह सम्पूर्ण छटा

सुरवाया के मंदिर संख्या 1 की सजावट की याद दिलाती है। बल्कि ये सजावट यहाँ अधिक सुविस्तृत है। प्रेतों का नृत्य जिसमें कंकालों को आपस में गुंथे हुए तथा आहाररत प्रदर्शित किया गया है, मण्डप के दृश्यों में अद्भुत प्रतीत होता है। मण्डप के कुछ स्तम्भों पर "जोगी मकरध्वज 700" लेख उत्कीर्ण है।

ग्वालियर के कच्छपघात वंश के सीधे संरक्षण में सुहानियाँ (सिहोनियाँ) का मंदिर भी निर्मित हुआ जो "ककनमठ" नाम से विख्यात है। इसका निर्माण कच्छपघात राजा कीर्तिराज (1015-35 ई.) के समय में हुआ। तथा वास्तु की दृष्टि से यह जेजाकभुक्ति के मंदिरों से प्रभावित है। यद्यपि अब यह मंदिर जीर्ण शीर्ण हो चुका है, तथापि आकार और संधान दोनों ही दृष्टियों से यह मूल रूप में अत्यन्त भव्य निर्माण था। 'ककनमठ' एक ऊँची सुसज्जित पीठ पर स्थित है। इसके चारों कोनों पर गौण मंदिर थे जिनमें से एक पर 'गण' की मूर्ति है जिसके साथ 'गण' शब्द लेख भी अभिलिखित है। इस द्विधा में श्लेषोक्ति का भाव प्रतीत होता है क्योंकि 'गण' का तात्पर्य शिल्पियों की 'संगोष्ठी', 'श्रेणी' या 'संघ' से भी है। मंदिर की योजना में साधार प्रासाद प्रकार का गर्भगृह है जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा पथ है। मण्डप के पार्श्व में तीन दिशाओं में वीथियाँ (Transepts) हैं। मण्डप और गर्भगृह के बीच अन्तराल है। मंदिर में सामने की ओर गूढ़ मण्डप और एक मुख मण्डप भी है जहाँ पूर्व दिशा से सीढ़ियों द्वारा पहुँचा जा सकता है। मंदिर की पीठ अनेक ढंग से सुसज्जित है और पीठ के आलयों में मूर्तियाँ हैं, जिनके ऊपर उदगम हैं। मंदिर का गर्भगृह 'पंचरथ' प्रकार का है। इसके उत्सेध विन्यास में नीचे वेदीबंध, तदुपरांत उस पर जंघा है जिस पर मूर्तियों की हार पंक्तियाँ हैं। जंघा के भद्र भागों पर प्रमुख देव मूर्तियाँ थीं जो अब खो चुकी हैं। प्रतिभद्रों में सुर-सुंदरी और कर्णों में दिग्पालों की मूर्तियाँ हैं। 'सलिलांतरों' में सुर-सुन्दरियाँ और व्याल मूर्तियाँ हैं। उत्कृष्ट कोटि का यह मंदिर व्यापक पशु, पक्षी, वनस्पति जगत सहित मंदिर के प्रत्येक अंग को एक में समायोजित करते हुए अत्यन्त भव्य रहा होगा। इस मंदिर के सम्मुख एक सुंदर, उत्कीर्ण तोरण भी था, और एक स्वतंत्र स्तम्भ पर स्थापित नन्दी की प्रतिमा थी। यह मन्दिर शिव को समर्पित था। किन्तु आज उसके भग्नावशेष में उसका खोया हुआ वैभव विलाप करता है।

कच्छपघातों के राजसंरक्षित, आकर्षक मंदिरों में साथ-साथ बने सास-बहू (ग्वालियर) मंदिर है जो 1093 ई. में निर्मित हुए। इन मंदिरों को

अनेक तरह से समझने का प्रयास किया गया है। परन्तु इनकी सज्जा एवं बड़े वाले मंदिर के साथ का अभिलेख इसे विष्णु और लक्ष्मी के पौत्र अनिरुद्ध और उसकी पत्नी उषा को समर्पित घोषित करता है। लक्ष्मी और उषा का संबंध सास-बहू संबंध था अतः यह स्वाभाविक ही है कि लोकोक्ति में इन मंदिरों को सास-बहू मंदिर का अभिधान स्वीकृत हो गया और सदियों से प्रचलित रहा हैं। जहाँ तक इस नाम की वास्तविकता का प्रश्न है, मंदिरद्वय में बड़ा मंदिर अनिरुद्ध का है; अभिलेख में उन्हें 'पद्मनाथ' कहा गया है। 'पद्मनाथ' नाम इसके प्रथम निर्माता 'पद्मपाल' नामक कच्छपघात राजा के नाम पर पड़ा। सास बहू नामक बड़ा मंदिर उत्तरी भारत का अकेला एक पांचरात्र मंदिर है; और पूरे देश में यही अनिरुद्ध का एकमात्र मंदिर है। चंदेलों के शासनाधीन कच्छपघातों के क्षेत्र में मारुगुर्जर (सोलंकी क्षेत्र की) पद्धति से अनुप्राणित यह मंदिर अत्यन्त महत्वपूर्ण वास्तु कृति है। इस मंदिर के गर्भगृह में वैकुण्ठ की मूर्ति थी जो अब अनुपलब्ध है। मंदिरद्वय के बड़े मंदिर में एक खुला मण्डप है, एक महामण्डप है जो पार्श्व में वीथिकाओं तक विस्तृत है। इसके गर्भगृह और मण्डप के बीच अन्तराल है किन्तु इसका गर्भगृह का शिखर अब उपलब्ध नहीं है। तथापि इसके अन्तराल और मण्डप का द्वितल स्वरूप एवं महामण्डप का त्रितल स्वरूप वास्तुसज्जा और कलाकौशल की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली है।

मंदिर के अंदर बीस (20) देवकुलिकाएं संयोजित हैं। मंदिर का यह स्वरूप अनोखा है क्योंकि इस भाँति मंदिर में विष्णु के व्यूहों तथा व्यूहांतरों के लिए समुचित स्थान अनुकूल हो सका। विष्णु के चतुर्विंशति रूपों के लिए भी वास्तु की दृष्टि से सर्वथा पूर्ण प्रतीत होता है। अभिलेख के अनुसार विष्णु और अनिरुद्ध, दोनों की, प्रतिमाएँ इस मंदिर के गर्भगृह में थीं। श्रीपति, वामन और अच्युत द्वारा विष्णु के 'चतुर्विंशति' रूपों का यह समूह बनाया गया था। ये तथा शेष व्यूहांतर इस मंदिर की देवकुलिकाओं एवं गर्भगृह में यथास्थान आसीन रहे होंगे। इस प्रकार के सुविस्तीर्ण तथा सम्पूर्ण विस्तारयुक्त निर्माण किसी भी एक अकेले मंदिर की आन्तरिक समायोजना में प्राप्य नहीं है। ये मूर्तियाँ यद्यपि अब खो चुकी हैं, किन्तु मंदिर की योजना में इनकी पूर्ण स्थिति, इस मंदिर को अनोखा सिद्ध करती है।

यह मंदिर अपनी मूर्तिकला, अंतरस्थित देवकुलिकाओं विस्तारपूर्वक साज-सज्जा युक्त प्रवेशद्वारों, सुरुचिपूर्ण उत्कीर्ण स्तम्भों, जिन पर नाग,

प्रतिहारी और देवी मूर्तियाँ हैं, के कारण अद्वितीय हैं। मंदिर के प्रवेश द्वार पर बने (Arched) तोरण के अतिरिक्त इसका वितान (महामण्डप पर स्थित) सुरुचिपूर्ण सज्जा युक्त है। मरुगुर्जर ढंग के उदुम्बर और अत्यन्त कुशलतापूर्वक बनी मूर्तियों से यह मंदिर अत्यन्त प्रभावशाली है। वाह्य भाग में जगती पर स्थापित इस मंदिर का विस्तार सहित उत्कीर्ण अधिष्ठान तथा जंघा पर मूर्तियों की दोहरी पंक्तियाँ, भद्रादि भागों पर तथा वेदीबंध पर बनी सुंदर मूर्तियाँ, इसकी विशेषताएँ हैं। मंदिर के सामने एक (गरुड़ ?) ध्वजस्तम्भ है जो इसे सम्पूर्णता प्रदान करता है। इसके वर्तमान संतुलित और घायल स्वरूप का बस इतना ही ऐश्वर्य शेष है। यह मंदिर एक राजसी स्वप्न को साकार करने के लिए बनाया गया भव्यातिभव्य मंदिर था जिसमें सेवा एवं धार्मिक कृत्यों हेतु धनराशि, भूमि राजस्व, पूजा-सामग्री, देवदासियाँ और सेवक लगाये गये थे। इसमें अनेक जटिल अनुष्ठानों की व्यवस्था थी, जिनके विषय में मंदिर के प्रवेश द्वार पर जड़े कच्छपघात महीपाल के अभिलेख में विस्तृत सूचना है।

नरेश्वर में एक मंदिर और ग्वालियर में पहाड़ी पर बने दो अन्य मंदिरों का निर्माण भी कच्छपघातों के समय में हुआ। परन्तु इनमें हास के लक्षण स्पष्ट होने लगे हैं। इनकी योजना, निर्माण, सजावट इत्यादि सभी में सुविस्तृत निर्माणों, बनावट और मूर्तियों का न्यूनीकरण कर दिया गया है। इनमें पूर्ववर्ती मंदिरों जैसा ऐश्वर्य कल्पनाशीलता, कलाकौशल तथा सामग्री की कमी का आभास होता है। यद्यपि कच्छपघातों की एक शाखा 1125 ई. तक बनी रही परन्तु परवर्ती प्रतिहार इस समय तक अपेक्षाकृत स्थापित हो चुके थे। उनके तथा याज्वपालों के अन्तर्गत सुरवाया, सुभाषपुरा, तिलोरी, सतनवाड़ा आदि अनेक स्थलों पर मंदिर बने जिनकी जानकारी अब काल-कवलित हो चली है। मंदिरादि की राशि प्राचीन गोपाचल क्षेत्र में अपरिमित है, किन्तु इसके उपयुक्त अध्ययन की चेष्टा अभी अभीप्सित है।

### आभार :

प्रारम्भिक गोपाद्रि शैली के मंदिरों का अध्ययन 1994-95 में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला की एक योजना के अन्तर्गत प्राप्त अनुदान से सम्भव हुआ, जिसके लिए लेखक उनका आभारी है। लेखक अपनी सहधर्मिणी श्रीमती वीणा मिश्र के प्रति भी आभारी है, जिन्होंने अंग्रेजी में लिखे इस लेख का सरल अनुवाद किया।

## संक्षिप्त ग्रन्थ सूची :

- वी. एस. पाठक (1960) शैव कल्त्स इन नार्दर्न इंडिया, वाराणसी
- रमानाथ मिश्र (2002) भारतीय मूर्तिकला का इतिहास, दिल्ली  
(ग्रन्थ शिल्पी)
- (2002) 'फ्राम तपोवन टु तीर्थ : एक्सपैंशन ऑफ शैव सिद्धांताज सैक्रेड स्पेस इन सेन्ट्रल इंडिया', आर. नागास्वामी (सं.), फाउंडेशन ऑफ इंडियन आर्ट, चैन्नई, (तमिल आर्ट्स एकेडेमी)
- (1995) 'पॉन्टिफ्स एम्पावरमेन्ट इन सेन्ट्रल इंडियन शैवाइट मोनेकिज़्म', जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बाम्बे, जिल्द 72 (नई सीरीज) पृ. 72-86
- (1993) 'रिलीजन इन ए डिस्आर्गेनाइज्ड मिल्यू', टी.ओ 'कोनेल (सं.) आर्गेनाइजेशनल ऐन्ड इन्स्टीट्यूशनल ऐस्पेक्ट्स आफ इंडियन रेलीज़स मूवमेन्ट्स, शिमला (भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान)
- (1993) 'दि शैवाइट मोनेस्टरीज़, पॉन्टिफ्स ऐन्ड पैट्रोनेज इन सेन्ट्रल इंडिया', जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बाम्बे, जिल्द 64-66 (1985-91, कम्बाइन्ड) पृ. 108-124
- (1989) 'शैवाइट ऐसेटिक्स ऐन्ड देयर ऑर्गनाइजेशन इन मध्य प्रदेश', पुरातन 6, (भोपाल) पृ. 53-55
- (1987) स्कल्पचर्स आफ डाहल ऐन्ड दक्षिण कोसल, दिल्ली (आगम कला प्रकाशन)
- (1986) 'दि रिडिल आफ सास बहू टेम्पिल', रतन परिमू तथा अन्य (सं.), वैष्णवइज़्म इन आर्ट ऐन्ड कल्चर, दिल्ली (बुक्स ऐन्ड बुक्स) पृ. 170-186
- (1985) 'ऐन्शयेन्ट टेम्पिल्स आफ ग्वालियर रीविजिटेड',



अजय मित्र शास्त्री तथा अन्य (सं.) वाजपेय :  
प्रो. के. डी. बाजपेयी फेलिसिटेशन वाल्यूम,  
दिल्ली (आगम) पृ. 221-228

(1983) 'स्कल्पचर्स आफ ग्वालियर रीजन' जर्नल आफ  
दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बाम्बे, जिल्द  
54-55 (1979-80 कम्बाइन्ड), पृ. 71-78,  
तथा चित्र;

(1980) 'प्राचीन ग्वालियर के सीमांतों के पुरातात्विक,  
पुराभौगोलिक एवं ऐतिहासिक आधार', हरिहर  
निवास द्विवेदी (सं.), ग्वालियर दर्शन, ग्वालियर  
(जीवाजी विश्वविद्यालय), पृ. 1-16

(प्रकाश्य)

'बिगिनिंग्स आफ शैव सिद्धान्त ऐन्ड इट्स  
एक्सपैंडिंग स्पेस इन सेन्ट्रल इंडिया', सदानंद  
दास, फुरलिंगर, (सं) बेट्टिना बाउमर फेलिसिटेशन  
वाल्यूम

माइकेल डी. विलिस (1990) टेम्पिल्स आफ गोपक्षेत्र, लंदन (ब्रिटिश म्यूजियम)

(1996) "आर्कीटेक्चर इन सेन्ट्रल इंडिया अंडर दि  
कच्छपघात रूलर्स" साउथ एशियन स्टडीज़, 12,  
पृ. 13-32

वीणा मिश्र

(1995) 'सास बहू का देहरा (ग्वालियर) : एक नवीन  
व्याख्या', प्राच्य प्रतिभा, जिल्द XVI, (1993-95)  
भोपाल, पृ. 138-145

आर. डी. त्रिवेदी

(1990) टेम्पिल्स आफ प्रतिहार पीरियड इन सेन्ट्रल  
इंडिया, दिल्ली (भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण)



सुरवाया जिला शिवपुरी के एक तपस्वी की प्रतिमा  
10वीं शताब्दी ई०

अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्,  
शमयति परितापं छायाया संश्रितानाम् ।।

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5.7

(वृक्ष अपने सिर पर सूर्य की प्रखर किरणों का सन्ताप इसलिए सहता है कि उसकी छाया में आए हुए पथिकों को लू न लगे।)

X X

### विश्ववारा संस्कृति

नदी के प्रवाह के समान प्रत्येक संस्कृति अपने मार्ग से बहती है। वह अपने लिए जिन दो किनारों का निर्माण करती है वही उसकी विशेष सीमा है। सांस्कृतिक प्रवाह का एक किनारा मन है दूसरा कर्म। किसने कितना सोचा और किसने कितना किया, इससे ही जीवन की नदी बहती है। प्रत्येक संस्कृति इतिहास के लिए कुछ सांकेतिक अक्षर लिख जाती है। ये ही मानवीय जीवनरूपी व्याकरण के प्रत्याहार सूत्र हैं।

भारत ने अध्यात्म को, यूनान ने सौन्दर्य तत्त्व को, रोम ने न्याय और दण्ड व्यवस्था को, चीन ने विराट जीवन के आधारभूत नियम को, ईरान ने सत् और असत् के द्वन्द्व को, मिश्र ने भौतिक जीवन की व्यवस्था और संस्कार को, सुमेर और म्लेच्छ जातियों ने दैवी दण्ड विधान को अपनी-अपनी दृष्टि से आदर्श रूप में स्वीकार करके उनकी प्रेरणा से संस्कृति का विकास किया। ये सब हमारे लिए मूल्यवान हैं।

— डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल

## प्रोफेसर रमानाथ मिश्र

अध्यक्ष (अवकाश प्राप्त), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर

विख्यात कलाविद् और कला-इतिहासज्ञ प्रो. रमानाथ मिश्र (जन्म : 1939 ई.) ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.ए. तथा सागर विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् सागर विश्वविद्यालय में 15 वर्ष और जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर में 30 सितम्बर, 2001 तक अध्यापन कार्य किया। 1996 से 2001 तक अनेक बार उन्होंने जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के कार्यवाहक कुलपति के रूप में भी कार्य किया। 1973 से 1975 तक वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में विजिटिंग फेलो, 1994 में पार्ट टाइम फेलो रहे। सम्प्रति, वे वहीं पर फेलो के रूप में शोधरत हैं।

प्रो. मिश्र ने कला-इतिहास, सौन्दर्यशास्त्र, प्राचीन कलाकारों और उनके सामाजिक पक्षों पर मौलिक कार्य किया और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं में उनके 100 से अधिक लेख प्रकाशित हुए हैं। 1966 में जर्मनी के हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय की 600 वीं जयन्ती के अवसर पर आयोजित 'भारतीय कलाओं में शास्त्रीय परम्पराएँ' विषयक संगोष्ठी में उन्हें आमंत्रित किया गया। पटना संग्रहालय, मथुरा संग्रहालय, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, भारत कला भवन, वाराणसी, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, स्कूल ऑफ आर्कियोलॉजी (भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण) जैसी संस्थाओं ने उनके व्याख्यान आयोजित किये। दिसम्बर 2001 में दिसपुर, असम में आयोजित इण्डियन एसोसियेशन ऑफ आर्ट हिस्टोरियन्स के उद्घाटन सत्र में उनका अध्यक्षीय भाषण हुआ।

प्रो. मिश्र की कृतियों में भरहुत (1971), ऐशियन्ट आर्टिस्ट एण्ड आर्ट ऐक्टिविटी (1975), यक्ष कल्ट एण्ड आइकोनोग्राफी (1981), प्राचीन भारतीय समाज, अर्थ-व्यवस्था और धर्म (1994) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारतीय मूर्तिकला (1978) की रचना के लिए उन्हें बिहार शासन (1981-82) और उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (1979-80) द्वारा पुरस्कृत-सम्मानित किया गया। इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण भारतीय मूर्तिकला का इतिहास (2002) शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

सम्प्रति प्रो. मिश्र भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला से प्रकाशित शोध पत्रिका, 'स्टडीज इन ह्यूमैनिटीज एण्ड सोशल साइंसेज' का सम्पादन कर रहे हैं। साथ ही वे इसी संस्थान में भारतीय सभ्यता पर चलने वाली एक परियोजना के अन्तर्गत आउटलाइंस आफ इण्डियन आर्ट पीक्स आफ एक्सीलेंस नामक खण्ड के समन्वयक एवं सम्पादक हैं।

“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रूयः ।  
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥”

—विष्णुपुराण

(ऐश्वर्य, वीर्य या कर्मशक्ति, यश, श्रीलक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छह गुणों की संज्ञा ‘भग’ है। यह समन्वित महाशक्ति जिस पुरुष में निवास करती है वह भगवान है।

ऐश्वर्य के द्वारा अंहकार, वीर्य या पराक्रम के द्वारा क्रोध, यश के द्वारा मद्, श्री के द्वारा लोभ, वैराग्य के द्वारा काम और ज्ञान या विवेक के द्वारा मोह नामक शत्रु पर विजय प्राप्त की जाती है।)

X X

अहं नारायणो ब्रह्मन् सर्वभूः सर्वनाशनः... ।  
अहमिन्द्रपदे शक्रो वर्षाणां परिवत्सरः ॥  
अहं योगी युगाख्यश्च युगान्तावर्त्त एव च ।  
कृतान्तः सर्वभूतानां विश्वेषां कालसंज्ञितः... ॥

—मत्स्यपुराण

(मैं ब्रह्म हूँ, नारायण हूँ। मैं सबका जनक और संहारकर्ता हूँ। इन्द्र के रूप में देवराज शक्र हूँ। मैं कालचक्र हूँ। मैं वह योगी हूँ जो युगों को चलाता है और फिर उनका अन्त कर देता है। मैं विश्व के सभी पदार्थों को समाप्त कर देता हूँ। मेरा नाम काल है...।)